lawyering for change

उद्देशिका :

संक्षिप्त परिचय

अल्टरनेटिव लॉ फोरम द्वारा प्रकाशित
सिविकएक्ट फाउंडेशन द्वारा हिन्दी में अनुवादित

उद्देशिका:
संक्षिप्त परिचय

अरविंद नारायण
पूर्णा रविशंकर

हिन्दी अनुवादः धर्मेश चौबे

अल्टरनेटिव लॉ फोरम द्वारा प्रकाशित
सिविकएक्ट फाउंडेशन द्वारा हिन्दी में अनुवादित

प्रस्तावना:
एक संक्षिप्त परिचय

प्रकाशकः अल्टरनेटिव लॉ फोरम
दूसरा संस्करण, जनवरी 2021
लेखकः अरविंद नारायण, पूर्णा रविशंकर
कवर पेज और लेआउटः क्षीरजा कृष्णन
प्रस्तावना तस्वीरः https://hindigyankosh.com/indian-constitution-preamble/
हिन्दी अनुवादः धर्मेश चौबे

इस दस्तावेज को altlawforum.org पर देखा जा सकता है।

इस पुस्तिका के केवल हिन्दी अनुवाद से संबंधित प्रश्नों के लिए संपर्कः foundationcivicact@gmail.com

यह पुस्तक पूरी तरह से गैर–व्यावसायिक उद्देश्यों और आगे शोध के लिए है। उद्धृत और पुनर्मुद्रित सभी सामग्री निष्पक्ष व्यवहार सिद्धांतों के अनुरूप है। इस पुस्तक को गैर–व्यावसायिक और शैक्षिक उद्देश्यों के लिए उचित

साभार

भारत के संविधान में आमजन की सहज और अनूठी रुचि के चलते ही संविधान की उद्देशिका पर इस टीका की जरूरत महसूस हुई। इसका उद्देश्य हमारी उद्देशिका के उन मूल्यों पर से पर्दा हटाना है जो हमारे संविधान का आधार हैं और साथ ही उनके स्रोत से लेकर आज के भारत में उनकी अहमियत को समझना है।

पुस्तिका पर अपनी बहुमूल्य राय देने के लिए हम प्रिया राव, विनय कुमार और अरुण थिरुवेंगदम के आभारी हैं।

हम तेजस्वी शिवानंद के विशेष आभारी हैं जिनकी टिप्पणी और राय से हमारी लेखनी बेहतर हुई।

मणि पी.आर.एस, स्वाथि शेषाद्रि, वेंकट निवासन, जानकी निवासन, प्रसन्न रजाशेखरप्पा, प्रोफ. राजेन्द्र, देवांजलि सरकार और फादर जेराल्ड से हुई बातचीत ने हमारे विचारों को रूप देने, सटीक बनाने और स्पष्ट करने में अहम भूमिका निभाई। हम अल्टरनेटिव लॉ फोरम के अपने साथियों का भी उनके उदार सहयोग के लिए आभारी हैं।

दो दिन से भी कम समय में इस पुस्तिका का टाइपसेट और आवरण बनाने के लिए हम क्षीरजा कृष्णन के अत्यंत आभारी हैं। इस संस्करण का हिंदी में अनुवाद करने के लिए हम धर्मेश के भी अत्यंत आभारी है। इस संस्करण का हिंदी में अनुवाद करने के लिए हम धर्मेश एवं सिविकएक्ट फाउंडेशन टीम के आभारी हैं ।

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

विषय सूची

1. भूमिका 01

2. आजादीः संघर्ष का परिणाम 04
   - राजनैतिक आजादी 04
   - सामाजिक आजादी 12
   - आर्थिक आजादी 17

3. भारत के सांविधान की प्रस्तावना 21
   - प्रस्तावना के अग्रदूत 21
   - हम लोग 25
   - संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य 26
   - पंथनिरपेक्ष 30
   - समाजवादी 33
   - न्याय 35
   - स्वतंत्रता 36
   - समता 40
   - बंधुत्व 47
   - गरिमा 54

निष्कर्ष 59

पाद टिप्पणियाँ 61

1 भूमिका

हाल के समय में भारत का संविधान आम चर्चा का हिस्सा बना है। नागरिक आंदोलनकर्ताओं ने संविधान की उद्देशिका और उसके कई हिस्सों का इस्तेमाल संवैधानिक दृष्टि बनाने के लिए किया है। इसने लोगों को प्रस्तावना में निहित मूल्यों पर उत्साहपूर्वक बहस करने और संविधान में सन्निहित आदर्शों के साथ एक स्वतंत्र संबंध बनाने के लिए प्रेरित किया है।

दिसम्बर 2019 के अंत में जो सीएए विरोधी आंदोलन शुरु हुए उनमें संविधान एक समावेशी भारत के प्रतिनिधि के तौर पर मौजूद रहा। आंदोलन स्थलों पर प्रदर्शनकारियों ने राष्ट्रीय ध्वज लहराते हुए जोशीला प्रदर्शन किया। राष्ट्रीय ध्वज के साथ साथ आंदोलनकारियों के पास गाँधी जी और डॉ आंबेडकर की फोटो वाले पोस्टर्स एवं उद्देशिका की प्रति भी थी।

इन बदलावों के चलते आम नागरिक के जीवन में संविधान की क्या भूमिका है ये उन्होंने नए सिरे से सोचना शुरु किया है। संविधान में इस तरह की सहज और जबर्दस्त रुचि इस तरह पहले नहीं थी। ये हाल की गतिविधियां विशिष्ट संवैधानिक अधिकारों को हासिल करने तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि संवैधानिक चेतना को बढ़ाने और संविधान की भावना को आत्मसात करने पर केंद्रित हैं।

इन आंदोलनों के चलते जन गण के मन में बुनियादी संवैधानिक मूल्य गहरे बस गए इस बात का सबसे साफ सबूत यही है कि आम जन ने नागरिक कानूनों का विरोध करने के लिए समता, बंधुत्व और पंथनिरपेक्षता (सेक्युलर) के मूल्यों की बात संविधान की भाषा में की। जाने माने मानवाधिकार आंदोलनकर्ता बालगोपाल[1] का कहना है:

> '[...] *बिना किसी संघर्ष या आंदोलन के अधिकार नहीं मिलते। कोई भी अधिकार पहले किसी व्यक्ति के दिमाग और विचारों में रूप लेता है। इसके बाद यह सामाजिक चेतना में फैलता है और धीरे–धीरे एक राजनीतिक काम बनता है। भविष्य में इसकी राजनीतिक विजय होती है। यानि कानून, संविधान, परंपराएं और संस्कृति इस अधिकार को कानूनी और सामाजिक रूप से स्वीकार करते हैं।*[2]

संविधान को 'सुस्त बेजान शब्दों' की बजाय संघर्षों के फल के तौर पर देखना जरूरी है। जाने माने मानवाधिकार वकील के.जी. कन्नाबिरन का कहना है:

> *संविधान एक राजनीतिक दस्तावेज है जो लोगों के संघर्षों से जीते गए और पहले से मौजूद अधिकारों को कानूनी जामा पहनाता है। अधिकार हमेशा लिए गए हैं, कभी दिए नहीं गए। लोगों ने अंग्रेजों से आजादी ली ना कि भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 ने हमें दी।*[3]

यहां हमें भारत की आजादी की लड़ाई के बारे में भी सोचना चाहिए जिसके चलते संविधान का जन्म हुआ। आज भी संविधान आज़ादी के मूल्यों पर किये जा रहे उन सभी संघर्षों के लिए प्रेरणा स्रोत है। ये पुस्तिका उद्देशिका में निहित मूल्यों पर बात करेगी, प्रो. उपेन्द्र बक्शी के अनुसार, संविधान जिसका फुटनोट मात्र है।

इस बात के साथ, ये पुस्तिका भारत के संवैधानिक मूल्यों के जन्म और विषय वस्तु को दो नज़रियों से देखेगी, पहला, आजादी का आंदोलन, और दूसरा, जैसे सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) और अलग अलग जन आंदोलनों ने संविधान की उद्देशिका को समझा और समझाया है।

भारतीय संविधान के आदर्श मूल्य आजादी के आंदोलन की आग में तपकर बने हैं। आजादी का आंदोलन भी हमें कई सारे विचारों और कार्यों के

समागम के रूप में जैसे देखना चाहिए, जिसमें आजादी की तीन बड़ी बातें थीं: राजनैतिक आजादी, सामाजिक आजादी और आर्थिक आजादी।

आजादी की इस समझ की अभिव्यक्ति उद्देशिका में दिखती है। जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में उद्देश्य प्रस्ताव (जो उद्देशिका का अग्रदूत है) पेश करते हुए कहा था कि इसे आप लोग वकीलों के जैसे ना देखें, अगर ऐसा किया

> "*तो आप केवल एक निर्जीव वस्तु उत्पन्न करेंगे। उन्होंने सदस्यों से सिफारिश की कि वे प्रस्ताव की मूल भावना को समझें जिसमें आजादी के आंदोलन के मूल्य निहित हैं। उनके अनुसार शब्द कई बार बेहद जादुई होते हैं, लेकिन कई बार शब्दों की जादूगरी भी इंसानी रूह और मुल्क के जोश के जादू के आगे फीकी पड़ जाती है।*"[4]

नेहरू से प्रेरणा लेते हुए यह कहा जा सकता है कि संविधान के शब्द आज़ादी की लड़ाई की मूल भावना को अपने भीतर नहीं समा सकते, और आजादी की लड़ाई का गीत संविधान की कहानी बनते बनते कुछ बदल भी जाता है। लेकिन संविधान के शब्दों में जन आंदोलनों और कभी कभी सुप्रीम कोर्ट के फैसलों से जान फूंका जाती रही है। ये संघर्ष ही है जो 'संविधान में जान फूंकती है।'

अगर हम आज़ादी की लड़ाई से लेकर आजाद भारत तक एक लाइन उद्देशिका के बीच से होते हुए खींचे, और इसमें हाल में नागरिक समाज, सामाजिक आंदोलनों और न्यायतंत्र की आज़ादी की समझ भी शामिल करें तो देखेंगे कि आजादी का एक सुहाना सपना बड़ा साफ नजर आता है। भारत के संवैधानिक लोकतंत्र को आज़ादी की यही समझ मूल विषय देती है।

2 'आज़ादी': संघर्ष का परिणाम

राजनैतिक आज़ादी

जब हम आज़ादी के बारे में सोचते हैं तो सबसे पहले राजनैतिक आज़ादी का ही ख़याल आता है। आखिरकार, राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेजी हूकूमत के उपनिवेशवादी शोषण से आज़ादी की ही मांग थी। राजनैतिक आज़ादी का विषय समझने के लिए हम महात्मा गांधी के पास जा सकते हैं। वो ये बात जानते थे कि राजनैतिक आज़ादी के कई आयाम हैं।

बोलने और संबंध बनाने का अधिकार

महात्मा गांधी के अनुसार बोलने और अभिव्यक्ति की आज़ादी राजनैतिक आज़ादी का जरूरी हिस्सा है। वो कहते हैं:

> *अपने लक्ष्य की तरफ थोड़ा भी आगे बढने से पहले हमें बोलने और संबंध बनाने के अधिकार को सुनिश्चित करना होगा।* [...], *इन मूलभूत अधिकारों की हमें अपने प्राणों से अधिक रक्षा करनी होगी। जब किसी अभिव्यक्ति से तकलीफ हो और तब भी वह सुरक्षित रहे तभी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है; प्रेस की आज़ादी का सम्मान तभी मान्य है जब प्रेस कठोर टिप्पणी करने के साथ साथ बातों की गलत व्याख्या भी पेश कर सके...संबंध बनाने की आज़ादी का सम्मान तभी मान्य होगा जब लोग क्रांतिकारी कामों के लिए भी सभाएं कर सकें।*

> *नागरिक स्वतंत्रताओं का अहिंसा के अनुकूल होना ही स्वराज की ओर पहला कदम है। ये राजनैतिक और सामाजिक जीवन की सांस है। यह आज़ादी का मूलाधार है। यहां किसी भी तरह की मिलावट या समझौते की जगह नहीं है। यह जीवन का जल है।*[5]

गांधीजी बोलने और अभिव्यक्ति की आजादी को स्वतंत्रता का अटूट और ज़रूरी हिस्सा मानने के बारे में सिर्फ करीने से लिख ही नहीं रहे थे बल्कि इसकी रक्षा के लिए जेल भी जाने को तैयार थे। रॉलेट एक्ट पेश करने और जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग में नरसंहार करने के बाद गांधी के अखबार में उपनिवशवादी सत्ता की कड़ी आलोचना की गई थी।

> *'टैम्परिंग विद लॉयल्टी' (वफादारी के साथ छेड़छाड़) नामक एक लेख में उन्होंने लिखा कि, 'मैं गोली मारे जाने के डर से भारतीय सिपाही से यह कहने में नहीं झिझकूंगा कि वो अपनी नौकरी छोड़कर बुनकर हो जाए। क्या सिपाही का इस्तेमाल भारत को गुलाम बनाए रखने के लिए नहीं हुआ, जलियाँवाला बाग में मासूमों की हत्या करने के लिए नहीं हुआ...? क्या उसका इस्तेमाल मेसोपोटामिया के मगरूर अरब को हराने के लिए नहीं हुआ?* **[...]**, *कमज़ोर और मजलूमों की आजादी के सिपाही की बजाय उसका इस्तेमाल भाड़े के हत्यारे के तौर पर ही अधिक हुआ है।'*

वो आगे कहते हैं:

> **[...]**, *देशद्रोह तो कांग्रेस का धर्म ही हो गया है। हर असहयोगी ने कानून से बनी सरकार के खिलाफ अलगाव की ही बात की है। असहयोग, भले ही एक धार्मिक और दृढ़ नैतिक आंदोलन हो, सरकार को इच्छा से गिराने का लक्ष्य रखता है, और इसलिए भारतीय दंड संहिता के अनुसार कानूनी रूप से देशद्रोह है।* [6]

'पज़ल एंड इट्स सोल्युशन' (पहेली और इसके समाधान) नाम के एक लेख में वो लिखते हैं:

> *हम इस सरकार की ताकत का इसलिए विरोध कर रहे हैं क्योंकि हम इसे पूरी तरह से क्रूर मानते हैं। हम सरकार गिराना चाहते हैं। हम इसे लोगों की मर्जी के आगे झुकाना चाहते हैं। हम ये दिखाना चाहते हैं कि सरकार लोगों की सेवा करने के लिए बनी है, ना कि लोग सरकार की सेवा करने के लिए। इस सरकार में आजाद जिंदगी असह्य हो गई है, क्योंकि आज़ादी की जो कीमत वसूली जा रही है वो हद से ज्यादा है। हम एक हों या कई, हमें अपने मूल्यों या स्वाभिमान की कीमत पर आज़ादी खरीदने से इंकार कर देना चाहिए।* [7]

अपनी नीति की इस आलोचना पर अंग्रेजी हुकूमत ने भरतीय दंड संहिता की धारा 124 ए के तहत गांधी पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया। 124 ए के तहत गांधी पर 'कानून से स्थापित भारत सरकार के खिलाफ अलगाव भड़काने' के इल्जाम पर मुकदमा चला।

जब गांधी गिरफ्तार कर कोर्ट में पेश किए गए तब उन्होंने खुद को 'निर्दोष' की बजाय 'दोषी' कहकर पैरवी की और पूरे औपनिवेशिक शासन को ही कठघरे में ला दिया। रोलेट एक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकांड और औपनिवेशिक आर्थिक नीति जिसके चलते लाखों कंगाल हुए, के लिए सरकार को दोषी ठहराते हुए उन्होंने बोलने और अभिव्यक्ति की आज़ादी की जोरदार पैरवी की।

> *"जिस 124 ए के तहत मुझपर मुकदमा चल रहा है भारतीय दंड संहिता की राजनीतिक धाराओं में संभवतः सिरमौर है जिसका इस्तेमाल नागरिकों की आज़ादी खत्म करने के लिए होता है। लगाव कानून से पैदा या शासित नहीं किया जा सकता। अगर किसी का किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति लगाव नहीं है तो उसे अपना अलगाव व्यक्त करने की पूरी*

आज़ादी होनी चाहिए, जब तक वह हिंसा ना भड़काए या उसके बारे में ना सोचे या बढ़ावा ना दे...किसी भी अधिकारी के खिलाफ मेरे मन में कोई भी दुराव नहीं है, मेरे मन में राजा के प्रति भी कोई दुराव नहीं है। लेकिन मैं उस सरकार के प्रति दुराव रखने को धर्म मानता हूं जिसने पहले के किसी भी ढांचे से ज़्यादा नुकसान पहुंचाया है।" [8]

हालांकि जज ने गांधी को सजा सुनाई उनकी बात से पता चलता है कि गांधी ने उन्हें प्रभावित किया। जे. ब्रूमफील्ड ने लिखाः

"*कानून व्यक्तियों का सम्मान नहीं करता है, फिर भी, इस सच्चाई को नजरअंदाज करना असंभव होगा कि आप किसी भी ऐसे व्यक्ति से अलग श्रेणी में हैं जिसका मैंने कभी मुकदमा सुना है या कभी सुनने की संभावना है। इस बात को भी नजरअंदाज करना नामुमकिन होगा कि अपने करोड़ों देशवासियों की नजर में आप महान देशभक्त और एक महान नेता हैं। यहां तक कि वे सब भी जो आपसे राजनीति में अलग दृष्टिकोण रखते हैं, आपको उच्च आदर्शों और महान और यहां तक कि एक संत के समान जीवन जीने वाले व्यक्ति के रूप में देखते हैं। मुझे आपके साथ सिर्फ एक ही भूमिका में आना है, और वह है इस मुकदमे के ट्रायल जज के रूप में। यह मेरा काम नहीं है कि, मैं किसी अन्य चरित्र में आपको जज करने या आपकी आलोचना करने की बात भी सोचूँ। यह मेरा कर्तव्य और दायित्व है कि मैं आपका आकलन, कानून के अधीन एक व्यक्ति के रूप में करूँ, जिसने अपनी मर्जी से जानबूझकर न केवल कानून को तोड़ा है, बल्कि अपने जुर्म को स्वीकार भी किया है जो किसी भी अन्य व्यक्ति की नजर में राज्य के प्रति एक बड़ा अपराध होगा।* [9]

मुकदमे के उस समय के विवरण बताते हैं कि कुछ समय के लिए हर कोई सोच में पड़ गया कि क्या *'महात्मा गांधी एक अंग्रेजी न्यायाधीश के सामने मुलजिम बन कर खड़े थे या अंग्रेजी सरकार मानवता और ईश्वर के सामने।'* [10]

देशद्रोह के मुकदमे में गांधी ने अपने ऊपर लगे 'अलगाव बढ़ाने' के आरोप को एक सशक्त कदम के रूप में बदल दिया और बताया कि क्यों सरकार के खिलाफ 'अलगाव बढ़ाना एक नागरिक की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है'। संक्षेप में कहें तो, सुदीप्त कविराज के अनुसार, विद्रोही का मुकदमा कुछ ऐसा पलट गया कि वो राज्य[11] का मुकदमा नज़र आने लगा। इस मुकदमे में सबसे अधिक गंभीरता से राज्य के न्याय से संबंध पर बहस हुई। जैसा कि गांधी बेहद स्पष्ट बताते हैं कि ना केवल कानून को शोषक के पास गिरवी रख दिया गया है, बल्कि उससे भी अधिक भयावह उस आर्थिक नीति का 'मानवता के प्रति अपराध' है जिसने 'मरणासन्न होते लोगों को गांवों में कंकाल मात्र रख छोड़ा है'। आर्थिक और राजनैतिक न्याय की समझ दांव पर है, और गांधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रितानी हुकूमत ने भारत के लोगों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी ना निभाकर उनके लगाव का हक खो दिया है।

> *"विद्रोही का मुकदमा कुछ ऐसा पलट गया कि वो राज्य का मुकदमा नज़र आने लगा।"*

देशद्रोह के लिए गांधी के मुकदमे के साथ इस गहरे जुड़ाव से यह साफ है कि अगर हमें इतिहासबोध और गांधी के लिए इज्जत है, तो कानून की किताबों में देशद्रोह को अपराध के रूप में कभी नहीं रखा जाना चाहिए था। संविधान के लागू हो जाने के बाद खुद ही इसकी मौत हो जानी चाहिए थी। आज़ादी मिलते ही इसे खत्म कर देना चाहिए था। लेकिन यह कानून अभी भी लागू है और सभी सरकारें खुद की आलोचना होने पर मुकदमा चलाने के लिए इसका इस्तेमाल करने में खुश हैं।

मुकदमे से पहले होने वाली कैद से आजादी और मुलजिम का कानूनी पैरवी का अधिकार

राजनीतिक आज़ादी का कोई मतलब नहीं था अगर राज्य अपने विरोधियों को कैद करना जारी रखे। गांधी इस उम्मीद से लड़े कि राज्य को अपने

विरोधियों को मुकदमे के बिना और कानूनी पैरवी के बिना कैद करने का कोई अधिकार नहीं था। भयावह रौलट एक्ट को खत्म करने के लिए देशभर में होने वाला सविनय अवज्ञा आंदोलन इसी उम्मीद के साथ लड़ा गया था।

मुजलिम के जितने भी हक थे रॉलेट एक्ट (यानि अराजक और क्रांतिकारी अपराध अधिनियम, 1919), उन सभी को खत्म कर आपराधिक कानून के सिद्धांतों से अलग हो गया था, इनमें मुकदमे से पहले कैद से बचाव का अधिकार कानूनी पैरवी और खुली अदालत में मुकदमे का अधिकार भी शामिल था। रॉलेट एक्ट के तहत मौत की सजा का भी नियम था।

ये बिल्कुल हैरत की बात नहीं है कि रॉलेट एक्ट ने भारत के जन गण के मन में गुस्सा भरा और पूरे भारत में विरोध और प्रदर्शन शुरु हो गए। इन कानूनों पर गांधी ने एक रिपोर्ट में लिखाः
''इस कानून ने भारत में विरोध का ऐसा तूफान खड़ा कर दिया जो पहले किसी ने नहीं देखा था **[---],** *हमारी राय में, कोई भी स्वाभिमानी इंसान समाज के खिलाफ होने वाले अत्याचार को बर्दाश्त नहीं कर सकता है।''*[12]

रॉलेट एक्ट के खिलाफ चल रहे आंदोलन का आज के समय में बड़ा महत्व है। क्योंकि यह आंदोलन मुकदमे से पहले कैद होने की सजा से आजाद होने के अधिकार और कानूनी पैरवी के अधिकार की रक्षा का था। जब भी सर्वोच्च अदालत और उच्च अदालतों के जजों ने यह फैसला सुनाया है कि किसी भी इंसान को कानूनी पैरवी के बिना अपराधी नहीं ठहराया जा सकता है, तो उन्होंने रॉलेट विरोधी आंदोलन का ही हवाला दिया है, क्योंकि वो एक ऐसा कानून था जिसने – *न वकील, न दलील और न अपील* की समझ बनाई थी।[13] जैसा कि सुप्रीम कोर्ट ने 2011 में कहा थाः

> *हमारा संविधान बनाने वाले खुद स्वतंत्रता सेनानी थे जिन्होंने विदेशी ताकतों को हमारी नागरिक आजादी को रौंदते देखा था, और जो खुद भी 'न वकील, न दलील, न अपील' के नियम के तहत लंबे समय तक कैद में थे। उनमें से कई पेशे से वकील थे, और खास तौर से आपराधिक मामलों में वकील*

की अहमियत जानते थे। इसीलिए उन्होंने अनुच्छेद 22 (1)[14] *के तहत पैरवी को मौलिक अधिकार बनाया और संविधान बनाने वालों के मन की बात रखने के लिए उस नियम को अधिक से अधिक माना जाना चाहिए।*

शीर्ष अदालत ने देश भर में कई बार एसोसिएशनों के आचरण पर भी गंभीर आपत्ति जताई है, जिन्होंने अपने सदस्यों को हत्या, यौन उत्पीड़न, देशद्रोह, आतंकवादी कृत्यों आदि जैसे जघन्य अपराधों के आरोपियों की पैरवी करने से रोका है और इसे संविधान[15] के सभी मानदंडों का घोर उल्लंघन माना है क्योंकि यह हर इंसान को संविधान की दी हुई बुनियादी गारंटी को छीनता है।

सोशल मीडिया पर पाकिस्तान परस्त नारे लगाते जिन तीन कश्मीरी छात्रों का विडियो वायरल हुआ और उनपर देशद्रोह[16] का इल्ज़ाम लगाया गया उस केस में भी कर्नाटक हाइ कोर्ट का आदेश मुजलिम के वकील द्वारा पैरवी करने के अधिकार को अपरिहार्य मानने के तर्क को स्वीकार करता है। इसमें कहा है:

मुलजिमों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करना पुलिस का कर्तव्य है। अगर वकीलों को पैरवी करने से रोका जाए तो यह मुलजिमों के संवैधानिक अधिकारों का हनन होगा। [17]

कोर्ट ने आगे कहा कि उन्हें वकील के अधिकार से वंचित करने की कोई भी कोशिश न्यायिक प्रक्रिया के साथ छेड़छाड़ मानी जाएगी। ये तय करने के लिए कि यह अधिकार सुरक्षित हो, कोर्ट ने पुलिस को उन वकीलों को सुरक्षा देने के भी निर्देष दिए जो मुलजिमों की पैरवी कर रहे हैं। कोर्ट ने यह भी कहा:
अगर वकील भारत के संविधान के आर्टिकल 22 (1) की रक्षा नहीं करेंगे, अगर वो मुलजिम (अभियुक्त: जिसपर मुकदमा चल रहा हो) की पैरवी कर उसकी रक्षा नहीं करेंगे तो फिर कानूनी ढांचे की रक्षा कौन करेगा?[18]

राज्य की हिंसा से आज़ादी

हालांकि गांधी रोलेट एक्ट के विरोध और देशद्रोह के मुकदमे के दौरान औपनिवेशिक सरकार की वैधानिकता को चुनौती दे रहे थे, उनकी इस चुनौती में राज्य की भी आलोचना मौजूद थी। जैसा कि उन्होंने एक जगह कहा था:

> *अगर वकील भारत के संविधान के आर्टिकल 22 (1) की रक्षा नहीं करेंगे, अगर वो मुलजिम (अभियुक्तः जिसपर मुकदमा चल रहा हो) की पैरवी कर उसकी रक्षा नहीं करेंगे तो फिर कानूनी ढांचे की रक्षा कौन करेगा?* [18]

> *राज्य हिंसा के एक संगठित और केंद्रित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की एक आत्मा होती है, लेकिन चूंकि राज्य एक आत्माहीन मशीन है, इसे हिंसा से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता जो इसके अस्तित्व के लिए जिम्मेदार है।*
>
> *मैं राज्य की बढ़ती सत्ता को बेहद डर से देखता हूं, क्योंकि हालांकि ये शोषण को कम करके ठीक कर रहा होता है, ये व्यक्तित्व को तबाह कर मानवता का सबसे अधिक नुकसान कर रहा होता है, जो सभी तरह के विकासों की जड़ है।* [19]

“राज्य हिंसा के एक संगठित और केंद्रित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की एक आत्मा होती है, लेकिन चूंकि राज्य एक आत्माहीन मशीन है, इसे हिंसा से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता जो इसके अस्तित्व के लिए जिम्मेदार है।”

हाल के समय में राज्य ने खुद के और हिंसा के बीच की कड़ी को मजबूत किया है और खुद को गैर जवाबदेह बनाया है। राज्य का यह नया रूप जो खुद के ही लोगों के खिलाफ क्रूर हिंसा का इस्तेमाल करने में बिल्कुल भी नहीं झिझकता आने वाले समय में सबसे बड़ी चुनौती है। राष्ट्रवादी नेताओं में सम्भवतः गांधी राज्य की हिंसा के सबसे कट्टर विरोधी थे और इस बात से बेहद दुखी होते कि आज भारतीय राज्य और अधिक सैन्यीकृत हो गया है और अपने ही लोगों पर हिंसा करने को और भी आतुर है।

सैन्यीकृत राज्य (जहां सेना की बढ़ती मौजूदगी के साथ उसके तौर तरीकों की नागरिकों के जीवन में बढ़ती दखल हो) के संदर्भ में, जो किसी भी तरह की आलोचना ना बर्दाश्त करता हो, हेबियस कोर्पस (बंदी प्रत्यक्षीकरणः कैदी को कोर्ट में पेश करने) की याचिका बेहद अहम है। किसी को भी मनमाने तरीके से गिरफ़्तार कर कैद कर लेने की राज्य की अथाह सत्ता के सामने न्यायपालिका दीवार के जैसे खड़ी है। इसका काम संविधान में सुनिश्चित अधिकारों की रक्षा करना है। लोगों की मनमाने और गैर कानूनी तरीके से गिरफ़्तार होने से आज़ादी सुनिश्चित करना न्यायपालिका के मुख्य संवैधानिक ज़िम्मेदारियों में से एक है। यहां हमें हाइ कोर्ट (उच्च न्यायालय) और सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) का राजनैतिक आज़ादी की चाभी के तौर पर ताकत का आभास होता है जब वो हेबियस कोर्पस याचिका के आधार पर राज्य के अधिकारियों को यह साबित करने को कहते हैं कि वो दिखाएं कि गिरफ़्तारी कानूनी तरीके से हुई है।

सामाजिक आज़ादी

हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि संविधान केवल राजनीतिक आज़ादी की लड़ाई की उपज नहीं है बल्कि साथ ही साथ यह जाति और लिंग आधारित भेदभाव जैसी दमनकारी परंपराओं और प्रथाओं के खिलाफ लड़ाई का भी फल है।

गौतम भाटिया के अनुसारः

अम्बेडकर की क्रांतिकारी अंतर्दृष्टिः मानवीय गरिमा को भौतिक और प्रतीकात्मक नुकसान केवल जनसत्ता से ही नहीं, बल्कि निजी सत्ता से भी होता है – और संवैधानिकता का काम आज़ादी की खिदमत में जनसत्ता की तरीके से देखभाल करना भर नहीं है, बल्कि निजी सत्ता की ज़्यादतियों के खिलाफ भी सकारात्मक रूप से इंसानी आजादी की गारंटी देना है। [20]

शायद उस ऐतिहासिक पल को जो आज़ादी के विचार को ना केवल एक राजनीतिक बल्कि एक सामाजिक मुद्दा भी मानता है डॉ अम्बेडकर के नेतृत्व में महाड़ सत्याग्रह के रूप में जाना जाने लगा है। आज़ादी से पहले के भारत में जाति के आधार पर एक सामजिक भेदभाव का कड़ाई से पालन किया जाता था जिसमें सार्वजनिक सुविधाओं जैसे तालाबों, सड़कों, कुओं, खाने की जगहों आदि के इस्तेमाल बंटे हुए थे। हालांकि भारतीय समाज के भीतर कबीर और बौद्ध धर्म का उदय जैसी बदलाव की धाराएं थी जिन्होंने भेदभाव के इस रूप को चुनौती दी, लेकिन यह फिर भी सामाजिक आदर्श बना रहा।

19 मार्च, 1927 को 3000 लोगों के साथ महाड़ सम्मेलन शुरू हुआ। अम्बेडकर ने सम्मेलन में अपने भाषण में कहाः

ब्रितानी हुकूमत के आने से पहले अछूतों को अपना भाग्य बनाने के लिए किस तरह की जगह थी ये साफ तौर पर नहीं कहा जा सकता। लेकिन, उन दिनों छुआछूत की धारणा इतनी प्रबल थी कि छूतों पर अछूतों की छाया तक ना पड़े इसके लिए उन्हें रास्ते बदलने पड़ते थे। उनके थूक से सड़कें गंदी ना हो जाए इसके लिए उन्हें अपने गले में मिट्टी का घड़ा बांधकर चलना पड़ता था, और वे अछूत के रूप में पहचाने जा सकें ताकि दूसरों को प्रदूषित होने से बचाया जा सके इसके लिए उन्हें अपनी कलाई में काला धागा बांधना पड़ता था। [21]

अपने भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने अपने सामान्य और तीखे अंदाज में सेना

में भर्ती पर प्रतिबंध को समुदाय की बर्बादी का कारण माना और ये बात सामने रखी कि समुदाय को न केवल प्रतिबंध खत्म कराने के लिए जोर देना चाहिए बल्कि इसे आगे बढ़कर सफेदपोश नौकरियों और खेती के रास्ते तैयार करने पर भी ध्यान देना चाहिए।

भाषण के खत्म होने के बाद, चित्रे ने कहा कि हालांकि *'महाड़ नगर पालिका ने पहले ही अपने सभी तालाबों को सभी जातियों के लोगों के लिए इस तरह का कानून बनाकर खोल दिया है', लेकिन, अछूत लोग अभी भी इन तालाबों से पानी नहीं लेते हैं* [--] *इसलिए, मेरा प्रस्ताव है कि हम सब अध्यक्ष महोदय के साथ चावदार तालाब तक जुलूस निकालें और इसका पानी पिएं'*[22]

'महात्मा गांधी की जय!', 'शिवाजी महाराज की जय!' और 'समानता की जय हो!' जैसे नारे लगाते हुए उन्होंने बेहद शांतिपूर्ण तरीके से महाड़ के बाजार के बीचोबीच जुलूस निकाला। वे चावदार टैंक पर रुके और डॉ. अम्बेडकर ने उसके भीतर जाकर अपनी अंजुलियों में उसका जल उठाया। 'हर हर महादेव' के उद्घोष के साथ सभी ने जल ग्रहण किया।
इसके बाद सम्मेलन को संपन्न घोषित किया गया।[23]

ऊंची जातियों ने घर लौटते हुए कई प्रतिनिधियों पर हमला किया क्योंकि उन्होंने पानी पीने की हिम्मत कर उसे गंदा कर दिया था। सार्वजनिक तरीके से जाति की धारणाओं को इस तरह धता बताने के अभूतपूर्व काम पर प्रेस में कड़ी प्रतिक्रियाएँ हुईं। डॉ. आनंद तेलतुम्बड़े [24] के अनुसार इस छोटे से काम का गहरा असर हुआ। उन्होंने कहा:

> *महाड़ सत्याग्रह ने 'अछूतों' के बीच जागृति की लहर पैदा कर दी थी और उन्हें अपनी मुक्ति के लिए काम करने के लिए ताकत और आत्मविश्वास दिया। हजारों सालों तक उनके अस्तित्व को जकड़े रहने वाले हिंदू धर्मग्रंथों द्वारा उनमें जो हीनता की धारणा पैदा की गई थी अचानक उसमें दरार आनी शुरू हो गई थी और इससे उनका आत्मविश्वास जाग रहा था।* [25]

महाड़ सत्याग्रह के बाद अम्बेडकर ने 'अछूतों', ऊंची जातियों और सरकार के लिए तीन लेख लिखे। छूतों के लिए लिखे उनके लेख की सबसे खास बात यह थी कि उन्होंने साफ साफ यह बात कही कि छुआछूत को दूर करना दलित समुदाय के लिए आत्मसम्मान का सवाल है। वो कहते हैं:

> *हम कहना चाहते हैं कि आज तक महात्मा गांधी की तरह हम भी छुआछूत को हिंदू धर्म पर सबसे बड़ा धब्बा मानते थे। लेकिन अब हमने अपनी राय बदल दी है अब हम इसे अपने शरीर पर धब्बा समझते हैं। जब हमने इसे हिंदू धर्म पर कलंक माना तो हमने इसके उन्मूलन का काम आप पर थोप दिया था। लेकिन अब जब हमने यह जान लिया है कि यह हम पर ही एक धब्बा है, तो हमने खुद ही इसे धोने का काम स्वीकार कर लिया है।* [26]

वो आगे कहते हैं:

> *आपने हिंदू धर्म पर जो कलंक लगाया है अगर उसे हमारे खून से धोना ही हमारी नियति है, तो हम खुद को बेहद भाग्यशाली समझेंगे। हम इस विचार से निडर हो गए हैं कि हम इस नेक काम को पूरा करने के लिए बने हैं। ...लेकिन हमने इस मुद्दे को कभी भी किसी दंगे के रूप में नहीं देखा। हम इसे समानता की स्थापना के लिए युद्ध की पहली लड़ाई मानते हैं।*[27]

इस सम्मेलन के बाद अम्बेडकर ने बहिष्कृत हितकारिणी सभा के अंग के रूप में बहिष्कृत भारत बनाया, जो दूसरे सम्मेलन के लिए समर्थन जुटाने में एक बड़ी भूमिका निभाता।[28] जनसभाओं, हैंडबिलों, दीवार पेंटिंगों, और पर्चों के माध्यम से मुंबई और मराठी भाषी प्रांतों में खूब प्रचार किया गया। लोग सत्याग्रह कोष में दिल खोल कर धन देने लगे। इतिहास में अछूतों का नियोजित तरीके से किया गया यह पहला कार्यक्रम था।[29]

दलित समुदाय की जागरूकता से राज्य में एक जवाबी प्रतिक्रिया हुई और खुद महाड़ नगर पालिका ने एक और प्रस्ताव पारित कर कहा कि चावदार तालाब को 'अछूतों' के लिए नहीं खोला जाएगा। इसके बाद ऊंची जाति के

कुछ लोगों ने 'अछूतों' को चावदार तालाब के पानी के इस्तेमाल पर रोक लगाने के लिए जिला अदालत का रुख किया।
सत्याग्रह सम्मेलन में डॉ. अंबेडकर ने अपने भाषण में कहा:
वह पानी पीने के महत्व पर जोर देते हुए कहते हैं:

> *महाड़ के छूत लोग अछूतों को चावदार तालाब से पानी इसलिए नहीं पीने देते हैं कि उनके छूने से पानी गंदा या खराब हो जाएगा या भाप बनकर उड़ जाएगा।*
> *बल्कि वे यह मानना ही नहीं चाहते कि ये जातियाँ (अछूत) जिन्हें धर्मशास्त्रों में हीन घोषित किया गया है उनके समान हैं।*

"फ्रांसीसी समाज के पुनर्गठन के लिए फ्रांसीसी लोगों की सभा हुई थी। हमारा यह सम्मेलन हिंदू समाज के पुनर्गठन के इसी उद्देश्य से हो रहा है।"

वह पानी पीने के महत्व पर जोर देते हुए कहते हैं:

> *ऐसा नहीं है कि इस तालाब का पानी पीकर हम अमर हो जाएंगे। और आज तक चावदार तालाब का पानी नहीं पिया है तो मरे हुए हैं। इसलिए, अगर हम चावदार तालाब तक जुलूस निकालते हैं तो सिर्फ उसका पानी पीने के लिए नहीं। हम वहां यह तय करने जा रहे हैं कि हम भी दूसरों की तरह इंसान हैं। यह साफ हो जाना चाहिए कि यह सम्मेलन समानता स्थापित करने की दिशा में शुरुआत करने के लिए किया जा रहा है। अगर कोई भी इस सम्मेलन को इस नजर से देखे तो मुझे पूरा यकीन है कि किसी को भी इसके ऐतिहासिक होने पर शक नहीं होगा। इस दिन के जैसा भारत के इतिहास में कोई दूसरा दिन होगा मुझे नहीं लगता। अगर आप इतिहास में इसके जैसी कोई घटना देखना चाहते हैं, तो आपको यूरोपीय महाद्वीप में फ्रांस के इतिहास को देखना होगा।* [30] **[---]** *फ्रांसीसी समाज के पुनर्गठन के लिए फ्रांसीसी लोगों की सभा हुई थी। हमारा यह सम्मेलन हिंदू समाज के पुनर्गठन के इसी उद्देश्य से हो रहा है।* [31]

अपने भाषण में उन्होंने महाड़ सत्याग्रह को 1789 में फ्रांस में नेशनल असेंबली के आयोजन के जैसा देखा। उन्होंने कहा, 'हमारे सम्मेलन का उद्देश्य सामाजिक, धार्मिक, नागरिक और आर्थिक मामलों में समान उपलब्धि हासिल करना है। हम जाति–व्यवस्था के कड़े जाल को तोड़ने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।' वह आगे कहते हैं, 'हमारा आंदोलन हमारी ताकत और एकजुटता के लिए खड़ा है; बराबरी, आज़ादी और भाईचारे के लिए। [32]

सम्मेलन 25 दिसंबर, 1927 को मनुस्मृति दहन के साथ खत्म हुआ जो कि दलित समाज के उत्पीड़न के स्रोत का प्रतीक था। यह हिंदू धर्म के सामाजिक ढांचे की प्रतीकात्मक अस्वीकृति थी।

महाड़ सत्याग्रह सामाजिक स्वतंत्रता की लड़ाई का प्रतीक बन गया है। डॉ. अम्बेडकर के विचार दरअसल समानता, गरिमा, स्वायत्तता और जाति समाज के बंधनों से आज़ादी के विचार हैं। ये सभी विचार भारतीय संविधान की प्रस्तावना और संविधान में व्यक्त किए गए हैं।

आर्थिक आज़ादी

एक बेहद लंबे समय तक मुख्यधारा के राष्ट्रीय आंदोलन ने देश भर में चल रहे मजदूर वर्ग के आंदोलनों पर ध्यान नहीं दिया। 19वीं शताब्दी के अंत समय में कहीं जाकर आजादी के आंदोलन का ध्यान मजदूर वर्ग की लड़ाईयों की तरफ गया। और वो भी तब जब मजदूरों ने अपनी आर्थिक शिकायतों के लिए लगातार कई असंगठित आंदोलन किए थे।[33] इसी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक कराची प्रस्ताव पारित हुआ। यह अपने आप में एक बदलाव का पल था क्योंकि पहली बार सामाजिक–आर्थिक अधिकारों को साफ तरीके से सामने रखा जा रहा था।

आज़ादी के आर्थिक पहलू की समझ, 1931 के कराची प्रस्ताव में सबसे साफ है।

''कांग्रेस की राय है कि जनता के शोषण को खत्म करने के लिए, राजनीतिक आज़ादी में लाखों भूखे लोगों की आर्थिक आज़ादी भी शामिल होनी चाहिए। ताकि जनता कांग्रेस के स्वराज की कल्पना और उसके मतलब को समझ सके, कांग्रेस की स्थिति उन्हें सरल तरीके से बताना जरूरी है। इसलिए कांग्रेस यह घोषणा करती है कि हम उसी संविधान से सहमत होंगे जो दी हुई बातों को शामिल करे, या स्वराज सरकार को उन्हें देने की क्षमता दे: [...]

1. *औद्योगिक मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी, श्रम के सीमित घंटे, काम की स्वस्थ स्थिति, वृद्धावस्था, बीमारी और बेरोजगारी के आर्थिक खतरों से सुरक्षा।*

2. *दासत्व या दासत्व जैसी स्थितियों वाले काम से मुक्त श्रम।*

3. *महिला मजदूरों की सुरक्षा, और खास तौर पर प्रसूति अवधि के दौरान पर्याप्त छुट्टी।*

4. *स्कूल जाने वाली उम्र के बच्चों की फैक्ट्रियों में श्रम से मुक्ति।*

5. *श्रमिकों का विवादों के निपटारे के लिए मध्यस्थता द्वारा उपयुक्त तंत्र के साथ अपने हितों की रक्षा के लिए यूनियन बनाने का अधिकार।*

6. *भू–राजस्व और लगान में पर्याप्त कमी गैर–आर्थिक जोत के मामले में जरूरी समय के लिए किराए से छूट।*

7. *निश्चित से अधिक कृषि आय पर प्रगतिशील आयकर।*

8. *ग्रैजुएट इन्हेरिटेंस टैक्स।* [...]

9. *राज्य का प्रमुख उद्योगों और खनिज संसाधनों पर नियंत्रण।*

भारत के मजदूर इतिहास में कराची प्रस्ताव का पारित होना एक खास पल था। श्रम अधिकारों के लंबे समय तक पैरोकार रहे डॉ. अम्बेडकर ने

वायसराय की परिषद के श्रमिक सदस्य के रूप में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। वायसराय की परिषद के सदस्य के रूप में उन्होंने कारखानों के बिल, मजदूरों के भुगतान समेत उनके कल्याण और सामाजिक सुरक्षा के लिए कई हस्तक्षेप किए। आठ घंटे काम, महिला श्रमिकों के लिए मातृत्व लाभ आदि जैसी जीत हासिल करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह काम के सीमित समय के हिमायती थे क्योंकि काम के कम समय से ही मजदूर नागरिक बन सकते थे। उन्होंने कहा:

> *काम के घंटों में कमी पर श्रम विभाग के ज्ञापन ने साफ किया कि श्रमिकों को कारखाने से सही मात्रा में छुट्टी ना देना अन्यायपूर्ण और गलत था, क्योंकि ये नागरिकता के निर्माण और मजदूर की शारीरिक ताकत के रखरखाव के लिए जरूरी था।*[34]

आर्थिक अधिकारों के मुद्दे को मौलिक अधिकारों में कुछ जगह तो मिली है, लेकिन इसे खास तौर पर राज्य के नीति निर्देशक तत्वों(अनुच्छेद 36–51) के तहत रखा गया है। भारतीय संविधान के अनुसार, केवल वही अधिकार न्यायोचित हैं, यानि कोई भी उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में जाकर राज्य के खिलाफ इन अधिकारों को लागू करा सकता है, जो मौलिक अधिकार अध्याय के तहत हैं। राज्य के नीति निर्देषक तत्व का अध्याय राज्य के लिए दिशा–निर्देष हैं और ये गैर–न्यायिक हैं यानि, किसी भी अदालत को इन प्रावधानों को ना मानने पर राज्य के खिलाफ किसी व्यक्ति को राहत दिलाने का अधिकार नहीं है। इसलिए, नीति निर्देशक तत्वों की लागू ना हो सकने की प्रकृति ने सामाजिक–आर्थिक अधिकारों तक पहुंचने की चुनौती में एक और मुश्किल जोड़ दी है।

मौलिक अधिकारों के तहत अनुच्छेद 23 के तहत श्रम सुरक्षा का सबसे जरूरी हिस्सा वह है जो बेगार जैसी पारंपरिक प्रथाओं सहित जबरन श्रम को प्रतिबंधित करता है।[35] सुप्रीम कोर्ट के हिसाब से, ''मजबूर'' केवल ''शारीरिक बल'' तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें कई सामाजिक और आर्थिक मजबूरियां भी शामिल हैं, जो एक गहरी दमनकारी प्रणाली मे श्रमिकों को उनके हितों के खिलाफ फैसला लेने के लिए मजबूर करने के

लिए इस्तेमाल करती है।[36] अनुच्छेद 24[37] 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को खतरनाक काम करने से रोकता है। अनुच्छेद 19(1) (सी) श्रमिकों को यूनियन बनाने का अधिकार देकर उन्हें सामूहिक कार्रवाई करने के लिए ताकत देता है।

राज्य नीति के दूसरे जरूरी निर्देशक सिद्धांत भी हैं जो आर्थिक स्वतंत्रता की रूपरेखा तय करते हैं जैसे कि उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी की अनुमति (अनुच्छेद 43–ए), काम करने की न्यायपूर्ण और मानवीय स्थिति (अनुच्छेद 42), न्यूनतम मजदूरी (अनुच्छेद 43), जीवन स्तर में वृद्धि और श्रमिकों के स्वास्थ्य में सुधार का कर्तव्य (अनुच्छेद 47), समान काम के लिए समान वेतन (अनुच्छेद 39), आदि। न्यायिक व्याख्या ने लागू ना हो सकने वाले राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में से कुछ को मौलिक अधिकारों में बदल दिया है। हालांकि, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को भारत के जन गण के लिए एक जीवित जनादेश में बदलने के लिए अभी भी एक लंबा सफर तय करना है।

3 भारत के संविधान की प्रस्तावना

प्रस्तावना के अग्रदूत

भारत के संविधान की प्रस्तावना ने भारत के लोगों की आकांक्षाओं और समझ की पहले की अभिव्यक्तियों से सीख ली है, जिसमें नेहरू रिपोर्ट, पूर्ण स्वराज संकल्प, उद्देश्य संकल्प और अम्बेडकर के *राज्य और अल्पसंख्यक* में प्रस्तावित प्रस्तावना शामिल है।

1. पूर्ण स्वराज

भारत सरकार अधिनियम, 1919[38] के काम की समीक्षा और संवैधानिक सुधारों का प्रस्ताव देने के लिए 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई थी। इसमें किसी भारतीय प्रतिनिधि के ना होने से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेता आयोग की संरचना से नाखुश थे। जब अंग्रेजों से इस बाबत सवाल किया गया, तो उन्होंने इस कमी को दूर करने से मना कर ये चुनौती दे दी कि अगर भारतीय नेता अंग्रेजों के प्रयासों से नाखुश हैं तो वे खुद ही अपने संविधान का मसौदा तैयार करें। साइमन कमीशन की नियुक्ति के लिए जिम्मेदार कन्ज़र्वेटिव राज्य सचिव लॉर्ड बर्कनहेड इससे पहले कई बार यह कह चुके थे कि भारतीय ऐसे संवैधानिक सुधारों की ठोस योजना तैयार करने के लायक नहीं थे[39] जिसे आमजन का समर्थन मिले। इन्हीं चुनौतियों के जवाब में नेहरू रिपोर्ट (मोतीलाल के नाम पर) तैयार किया गया जो असल में होने वाले भारतीय गणराज्य के संविधान का मसौदा था। इसमें यह साफ कहा गया कि भारतीय संविधान का आधार मौलिक अधिकारों और बराबरी का अधिकार, जीवन का अधिकार, अंतःकरण की स्वतंत्रता का अधिकार और भेदभाव से सुरक्षा की घोषणा आदि होना चाहिए। इसमें

भारत को एक पंथनिरपेक्ष देश के तौर पर सोचा गया। हालांकि रिपोर्ट ने साम्राज्य के तहत एक डोमिनियन स्टेटस का विकल्प चुना, जिसका मतलब था कि भारत अंग्रेजी हुकूमत के प्रति निष्ठावान होगा।

लेकिन जवाहरलाल नेहरू और हसरत मोहरानी और सुभाष चंद्र बोस जैसे दूसरे नेता भारत के शासन के पसंदीदा तरीके के रूप में डोमिनियन स्टेटस से नाखुश थे और इसके बजाय पूर्ण स्वराज या पूर्ण स्वतंत्रता पर जोर दिया। इसके मद्देनजर कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवशन में 31 दिसम्बर, 1929 को पूर्ण स्वराज की घोषणा को स्वीकार किया। संकल्प की शुरूआती पंक्तियों में लिखा हैः

> *हम मानते हैं कि दूसरे लोगों की तरह भारतीयों का भी यह मौलिक हक है कि वे आजाद हों और अपनी मेहनत का फल भोगें और उन्हें अपने जीवन की जरूरतें मिलें, ताकि उन्हें उनकी बढ़त के पूरे मौके मिलें। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार लोगों को इन अधिकारों से वंचित करती है और उनका दमन करती है तो लोगों को इसे बदलने या खत्म करने का भी अधिकार है। भारत में ब्रिटिश हुकूमत ने न केवल भारतीयों को उनकी आजादी से दूर किया है, बल्कि खुद को जनता के शोषण पर बनाया बसाया है, और भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप से बर्बाद कर दिया है। इसलिए हम मानते हैं कि भारत को ब्रितानी साम्राज्य से संबंध तोड़ देना चाहिए और पूर्ण स्वराज या पूरी आज़ादी प्राप्त करनी चाहिए।*

सत्र में यह भी निर्णय लिया गया कि अब से 26 जनवरी को पूर्ण स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा। 26 जनवरी, 1930 को देश भर में बड़े पैमाने पर सभाएं और बैठकें आयोजित की गईं जहां पूर्ण स्वराज या पूरी आज़ादी को इकलौता सम्मानजनक लक्ष्य घोषित किया गया। यह भारत की आज़ादी के आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अवसर था क्योंकि पहली बार देश के लोगों ने आज़ाद भारत के लिए अपनी समझ को सामने रखा और सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था।

1947 में सत्ता बदलने तक कांग्रेस इस दिन को पूर्ण स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाती रही। पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की इस घोषणा के सम्मान में 26 जनवरी 1950 को भारत का संविधान अपनाया गया।

2. उद्देश्य संकल्प

जवाहर लाल नेहरू ने 13 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा में ऐतिहासिक उद्देश्य संकल्प पेश कर उन मूल्यों के बारे में बताया जिसके आधार पर सभा को भारत का संविधान बनाना था। संकल्प में कहा गया है कि भारत एक स्वतंत्र संप्रभु गणराज्य होगा और गणतंत्र के तहत आने वाले सभी प्रदेश स्वायत्त इकाइयां होंगे। इसने भारत के लोगों से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रतिष्ठा और अवसर की समता और विधिक समता कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अनुसार विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, पूजा, व्यवसाय, संघ और काम की आज़ादी का भी वादा किया।

संकल्प को पढ़ने से यह समझ आता है कि प्रस्तावना का प्राथमिक पाठ जो अब संविधान का एक हिस्सा है, काफी हद तक नेहरू के उद्देश्य संकल्प से प्रेरित था।

संकल्प में लिखा है:

1. *यह संविधान सभा भारत को एक स्वतंत्र संप्रभु गणराज्य के रूप में घोषित करने और उसके भविष्य के शासन के लिए एक संविधान तैयार करने के अपने दृढ़ और गंभीर संकल्प की घोषणा करती है;* **[...]**

2. *जहां संप्रभु स्वतंत्र भारत, उसके घटक भागों और सरकार के अंगों की सारी शक्ति और अधिकार लोगों से प्राप्त होते हैं और*

3. *जहां भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की गारंटी और सुरक्षा प्रतिष्ठा, अवसर, और कानून के समक्ष समता विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था पूजा, व्यवसाय, संघ और*

काम की स्वतंत्रता, कानून और सार्वजनिक नैतिकता के आधार पर होंगे और

4. *जहां अल्पसंख्यकों, पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों, और दलितों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पर्याप्त सुरक्षा के उपाय प्रदान किए जाएंगे और*

5. *जिससे गणतंत्र के क्षेत्र की अखंडता और भूमि, समुद्र और वायु पर उसके संप्रभु अधिकारों को न्याय और सभ्य राष्ट्रों के कानून के अनुसार बनाए रखा जाएगा, और*

6. *यह प्राचीन भूमि दुनिया में अपना सही और सम्मानित स्थान प्राप्त करती है और विश्व शांति को बढ़ावा देने और मानव जाति के कल्याण के लिए पूर्ण और इच्छुक योगदान देने के लिए अपना संपूर्ण और सहमति से योगदान देती है।"*

3. डॉ. अम्बेडकर: राज्य और अल्पसंख्यक

अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ की कार्य समिति के अनुरोध पर अनुसूचित जातियों की सुरक्षा के लिए समिति की तरफ से संविधान सभा में प्रस्तुत करने के लिए डॉ. बी. आर अंबेडकर ने *राज्य और अल्पसंख्यक*[40] का मसौदा तैयार किया। राज्य और *अल्पसंख्यक* संविधान के अनुच्छेदों की तरह तैयार किया गया था और '*संयुक्त राज्य भारत*' के एक लघु– संविधान जैसा था।

ज्ञापन सिर्फ एक ऐसा दस्तावेज नहीं था जो अल्पसंख्यकों को दी जाने वाली सुरक्षा तक ही सीमित था बल्कि यह व्यापक रूप से नागरिकों के मौलिक अधिकारों और इन अधिकारों पर हमलों (असमान व्यवहार, भेदभाव, आर्थिक शोषण आदि सहित) से सुरक्षा के साथ भी व्यापक रूप से जुड़ा हुआ था।

इसने जीवन के अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और समता के अधिकार सहित अन्य अधिकारों का जिक्र किया। इसमें कहा गया है कि भारत का संयुक्त राज्य इस दृष्टिकोण के साथ काम करेगा:

1. *भारत के संयुक्त राज्य में स्वराज और अच्छी सरकार दोनों के आशीर्वाद को अपने लिए और हमारी पीढ़ी के लिए प्राप्त करना,*

2. *जीवन के हर विषय के अधिकार को बनाए रखने के लिए, खुश रहने और बोलने की आजादी का इस्तेमाल करने की स्वतंत्रता और खुलकर अपने धर्म को मानना*

3. *हाशिये के वर्गों के लिए बेहतर अवसर उपलब्ध कराकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक असमानता को दूर करना*

4. *हर नागरिक को जरूरत और डर से आजादी का आनंद, और*

5. *आंतरिक अव्यवस्था और बाहरी आक्रमण के खिलाफ ठोस कदम उठाने के लिए संयुक्त राज्य भारत के लिए इस संविधान की स्थापना।*

हम लोग

भारत के संविधान में किसके नाम का आह्वान किया जाना चाहिए, इस सवाल पर सबकी सहमति से फैसला ना होकर संविधान सभा में जमकर बहस हुई थी। अम्बेडकर ने घोशणा की कि '*प्रस्तावना इस बात का प्रतीक है कि इस संविधान की जड़ें, अधिकार, और प्रभुसत्ता लोगों से है।*' यह बात सभा के उन सदस्यों के जवाब में थी जिन्होंने 'हम [भारत के], लोग' से पहले या उसे हटा कर 'ईश्वर' या 'गांधी' या दोनों को रखने की बात की थी।

इसके लिए यह तर्क दिया गया कि संविधान केवल एक राजनीतिक या सामाजिक नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक दस्तावेज भी है। इस आधार पर सदस्यों का मत था कि संविधान ईश्वर और राष्ट्रपिता के नाम पर लिखा जाए।

फिर भी सभा के दूसरे सदस्यों ने इस विचार का कड़ा विरोध किया क्योंकि

उनका मानना था कि ईश्वर की कोई भी बात लोगों पर सभा की साझी समझ थोपने जैसी होगी और इसलिए, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और पूजा की आज़ादी का उल्लंघन करेगी जिसका प्रस्तावना में वादा है। इसी तरह गांधी का जिक्र करने की मांग करने वाले संशोधन पर भी चर्चा हुई और उसे बाद में वापस ले लिया गया क्योंकि सदस्यों ने माना कि हमारा संविधान गांधीवादी संविधान नहीं था और इसलिए, गांधी का जिक्र करना गलत होगा।

जिस प्रस्तावना को सभा ने अंत में स्वीकार किया उसे देखने से यह साफ समझ आता है कि संविधान की स्थापना इस आधार पर हुई है कि यह '*हम लोग*' हैं जो इस संविधान को '*अपनाते, अधिनियमित करते और खुद को देते*' हैं। भारतीय राष्ट्र की स्थापना की खासियत इस बात में है कि यह एक धुंधले अतीत की ओर इशारा नहीं करता है, बल्कि इस विचार से मजबूती से जुड़ा रहता है कि देश के लोगों ने खुद को संविधान दिया है।
प्रस्तावना का लेख और लहजा हमें इस बात से भली–भांति अवगत कराता है कि संविधान सभा केवल 'लोगों' की प्रतिनिधि थी जिन्होंने खुद को 'संप्रभु, लोकतांत्रिक, गणतंत्र' देने का संकल्प लिया। मूल रूप से, संविधान इस गणतंत्रीय विचार को स्थापित करता है कि अधिकार का स्रोत लोग हैं न कि राजा। हम जिन विचारों से शासित होते हैं और जो संस्थाएं हमारे जीवन का ताना–बाना बनाती हैं, वे ईश्वरीय रूप से नियुक्त नहीं हैं बल्कि 'हम लोगों' द्वारा बनाई गई हैं।

संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य

जवाहरलाल नेहरू ने जो उद्देश्य संकल्प संविधान सभा में पेश किया था उसमें यह प्रस्ताव था कि सभा का कार्य 'स्वतंत्र, संप्रभु, गणराज्य' बनाने में मदद करना है। हालाँकि, जब मसौदा समिति ने इसपर चर्चा की तो इसमें जरूरी बदलाव हुए। समिति ने 'संप्रभु, लोकतांत्रिक, गणराज्य' को अपनाया क्योंकि उसके हिसाब से 'संप्रभु' और 'स्वतंत्र' दोनों एक ही बात को दिखाते हैं। संप्रभुता का सार यह है कि यह लोगों में निहित है। इसका राजशाही

से कोई रिश्ता नहीं है। यह भारत के लोगों के स्वराज के अधिकार को समाहित करता है।

भारतीय गणराज्य नेहरू की कल्पना का एक ऐसा भारत था जो राजशाही शासन से अलग था। 'लोकतांत्रिक' शब्द की अनुपस्थिति पर उन्होंने कहा:

... हमने इसलिए 'लोकतांत्रिक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि हमें लगा कि यह साफ है कि वो 'गणतंत्र' में शामिल है और हम बेमतलब शब्दों का इस्तेमाल नहीं करना चाहते थे **[---],**"[41] हालांकि यह गणतंत्र की एक गलत समझ थी कि क्योंकि यह जरूरी नहीं कि सभी गणराज्य लोकतांत्रिक हों, नेहरू ने भारत की लोकतांत्रिक संस्कृति में अटूट विश्वास दिखाया और कहा कि लोकतंत्र के विचार की एक साफ अभिव्यक्ति जरूरी नहीं थी क्योंकि हमारा पूरा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हम लोकतांत्रिक संस्थाओं के लिए प्रतिबद्ध हैं।

हालांकि, भारतीय लोकतंत्र का गठन करने में उनकी समझ जरूरी है: "*लोकतंत्र को मुख्य रूप से अतीत में राजनीतिक लोकतंत्र के रूप में देखा गया है, जिसका प्रतिनिधित्व मोटे तौर पर प्रत्येक व्यक्ति जो वोट दे वो करता है। लेकिन एक वोट अपने आप में उस व्यक्ति के लिए बहुत अधिक प्रतिनिधित्व नहीं करता है जो दबा कुचला और हाशिये से बाहर है, या मान लीजिए ऐसे व्यक्ति के लिए जो भूखा है। राजनीतिक लोकतंत्र अपने आप में काफी नहीं है जब तक कि इसका इस्तेमाल आर्थिक लोकतंत्र, समानता और जीवन की अच्छी चीजों को दूसरों तक पहुंचाने और गैर बराबरी को हटाने के लिए ना किया जाए।*"[42] यह ध्यान रखना जरूरी है कि लोकतंत्र एक ऐसे प्रस्तावना मूल्य के तौर पर ही नहीं है जो केवल सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार (21 साल से ऊपर सभी लोगों के लिए वोट का अधिकार) के विचार में शामिल है बल्कि एक ऐसे समाज को बनाने में भी है जहां सामाजिक और आर्थिक न्याय एक जीवंत वास्तविकता है।

> *"मौलिक अधिकारों का अध्याय भारत में संविधानवाद के ब्रह्मांड में ध्रुव तारे की तरह है।*

संवैधानिक नैतिकता हमेशा हर उस सामाजिक नैतिकता पर जीतती है जो अलग अलग बहुसंख्यक शासन थोपते हैं।"

डॉ अम्बेडकर लोकतंत्र की संवैधानिक कल्पना में एक जरूरी बात जोड़ते हैं। बहुधा लोकतंत्र को बहुसंख्यकों की राय माना जाता है। हालाँकि, बहुसंख्यक मत पर आधारित लोकतंत्र की खामियाँ भारतीय समाज, जिसे अम्बेडकर ने 'सांप्रदायिक बहुमत' कहा है, में स्पष्ट हैं। ऐसे लोकतंत्र में जहां लोग जाति और पंथ के आधार पर वोट देते हैं, वहां केवल सांप्रदायिक बहुसंख्यक ही सत्ता में रहेंगे। वह इसकी तुलना एक ऐसे लोकतंत्र से करते हैं जिसमें लोग अपनी पसंद के राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर वोट देते हैं। अगर लोग राजनीतिक पसंद के आधार पर वोट करें तो हमें एक 'राजनीतिक बहुमत' मिलेगा जिसमें बहाव रहेगा और जो एक मुद्दे से दूसरे मुद्दे में बदलता रहेगा जबकि 'सांप्रदायिक बहुमत' आने वाले समय के लिए हमेशा तय है। ऐसे समाज बहुसंख्यक लोकतंत्र बन जाते हैं, जबकि अम्बेडकर की कल्पना में भारत एक संवैधानिक लोकतंत्र है।

ऐसे में भारत में संवैधानिक बीज कैसे बोए जाएं?

सबसे पहले, भारतीय लोकतंत्र मौलिक अधिकार अध्याय के माध्यम से बहुमत की शक्ति को नियंत्रित करता है। न्यायपालिका की जिम्मेदारी यह सुनिश्चित करना है कि *तिरस्कृत और अलोकप्रिय अल्पसंख्यकों* के मौलिक अधिकारों का बहुसंख्यकवादी पूर्वाग्रह की वेदी पर बलिदान ना हो। ऐसा ही एक अल्पसंख्यक समुदाय LGBTQI (लेस्बियन, गे, बाईसेक्शुअल, ट्रांसजेंडर, क्वीयर, इंटरसेक्सः कई बार इसके दूसरे रूप भी होते हैं, जैसे LGBT, LGBTQ, LGBTQIA, LGBTQIAP आदि) समुदाय है जिसने भारतीय दंड संहिता, 1860 के धारा 377 की संवैधानिकता को चुनौती देने के लिए अदालत का रुख किया। सुप्रीम कोर्ट ने धारा 377 को इस तर्क को बरकरार रखते हुए समझाया कि बहुसंख्यकवाद अल्पसंख्यकों को उनके अधिकारों से वंचित करने का आधार नहीं हो सकता। यह माना गयाः

भारत के संविधान में मौलिक अधिकार के अध्याय का उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा के विषय को बहुसंख्यक सरकारों की पहुंच से बाहर करना है ताकि संवैधानिक नैतिकता को इस अदालत द्वारा लागू किया जा सके और अन्य अधिकारों के साथ ही 'अलग थलग हुए' अल्पसंख्यकों के अधिकारों को प्रभावी बनाया जा सके। ऐसे ही एक अल्पसंख्यक समुदाय ने इस न्यायालय का दरवाजा खटखटाया है क्योंकि यह न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक है। ये मौलिक अधिकार चुनाव के परिणाम पर निर्भर नहीं करते हैं। और, बहुसंख्यक सरकारों पर यह निर्धारित करने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता है कि सामाजिक नैतिकता से संबंधित मामलों में क्या रूढ़िवादी होगा। मौलिक अधिकारों का अध्याय भारत में संविधानवाद के ब्रह्मांड में ध्रुव तारे की तरह है। संवैधानिक नैतिकता हमेशा हर उस सामाजिक नैतिकता पर जीतती है जो अलग अलग बहुसंख्यक शासन थोपते हैं।

दूसरी बात लोकतंत्र को समय–समय पर होने वाले चुनावों से आगे बढ़कर जीवन जीने का तरीका बनना होगा। जैसा कि डॉ अम्बेडकर ने कहा था:

'*लोकतंत्र सरकार का एक रूप भर नहीं है। यह खासकर साथ रहने का एक तरीका है, साझे संबंध के अनुभव का। यह साथ के लोगों के लिए सम्मान और इज्जत का जरूरी व्यवहार है।*'[43]

डॉ. अम्बेडकर का 'साथ रहने' और 'साझे संबंध के अनुभव' से क्या मतलब था? डॉ. अम्बेडकर के हिसाब से लोकतंत्र दरअसल अनुभव में एक समानता लाने के बारे में है जो साथ रहने से आती है।जाति और धर्म से खंडित समाज की सच्चाई यह है कि लोग अपने समुदाय की बस्तियों में रहते हैं और '*साथ रहने*' जैसा कुछ भी नहीं है। जब लोग धर्म जाति के पार जाकर साथ रहेंगे और काम करेंगे तभी साझे अनुभव होंगे। अंततः केवल राजनीतिक लोकतंत्र से भी गहरी जड़ों वाला लोकतंत्र '*साथ रहने*' पर आधारित है और यह लोकतंत्र को एक ऐसा काम बनाता है जो केवल राज्य की जिम्मेदारी नहीं है बल्कि जिसमें लोगों को भी शामिल होना होगा।

नेहरू और डॉ. अम्बेडकर दोनों की समझ साथ में देखें तो लोकतंत्र समय समय पर आने वाले चुनावों से भी आगे की बात है। इसे कभी भी बहुसंख्यक मत से आसानी से नहीं जोड़ा जा सकता है और हमें लोकतंत्र को विकसित करने के काम को संविधान बनाने वालों का हमें दिया हुआ काम समझना होगा। जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा थाः

> *सवाल यह है कि क्या हम संवैधानिक नैतिकता के इस तरह के प्रसार को मान सकते हैं? संवैधानिक नैतिकता कोई स्वाभाविक भावना नहीं है। इसे पालना पोसना होता है। हमें यह मालूम होना चाहिए कि हमारे लोगों को अभी इसे सीखना है। भारत में लोकतंत्र भारतीय धरती पर , जो अनिवार्य रूप से अलोकतांत्रिक है, केवल एक ऊपरी परत है।* [44]

पंथनिरपेक्ष

पंथनिरपेक्षता प्रस्तावना के मूल पाठ का हिस्सा नहीं था, लेकिन इसे बाद में[45] 42वें संशोधन से इंदिरा गांधी के शासन के समय 1976 में जोड़ा गया।

पंथनिरपेक्ष और समाजवादी शामिल करने के ब्रजेश्वर प्रसाद[46] के प्रस्ताव को साफ खारिज कर दिया गया था। प्रो. के टी शाह ने संविधान के मसौदे के अनुच्छेद 1 में पंथनिरपेक्ष, संघीय, समाजवादी' [47] शामिल करने का संशोधन पेश किया था। बंटवारे को याद करते हुए उन्होंने कहा कि इसे जोड़ने का सुझाव "पिछले साल और उससे पहले हुए हमारे दुखद अनुभव जिनसे धर्म, सांप्रदायिकता या संप्रदायवाद के नाम पर ज्यादती हो सकती है.." [48] को देखकर दिया गया था। उन्होंने इस जोड़ को भविष्य में सांप्रदायिक हिंसा के खिलाफ एक सुरक्षा के रूप में देखने के साथ ही उस वादे के तौर पर भी देखा जो संविधान अपने लोगों से कर रहा था कि कैसे"[---] आदमी और आदमी के संबंध, नागरिक का राज्य से संबंध, राज्यों के आपसी संबंध उन विचारों से प्रभावित नहीं हो सकते हैं जिनके चलते अन्याय या गैर बराबरी होगी [---]" [49] यह प्रस्ताव भी खारिज हो गया।

हालांकि इसका खारिज होना पंथनिरपेक्षता के आदर्श को ना मानने के चलते नहीं था। संविधान सभा के वाद–विवादों को ध्यान से पढ़ने से यह साफ हो जाता है कि हर सदस्य ने ये कहा कि भारतीय संविधानवाद में धर्मनिरपेक्षता का विचार खुद ब खुद मिला हुआ ही था। विवाद का एकमात्र बिंदु भारतीय संदर्भ में पंथनिरपेक्षता की सामग्री पर केंद्रित था। इसने अलग–अलग मतों को जन्म दिया और दो अलग और विरोधाभासी समझें बनीं:

पंथनिरपेक्षता की पहली समझ राज्य और धर्म के बीच अलगाव की एक तय सीमा रखने के यूरोपीय मॉडल पर आधारित थी। इसका मतलब यह था कि जन जीवन में धर्म का कोई स्थान नहीं था, लेकिन लोग अपने निजी दायरे में अपने धर्म का पालन करने के लिए आज़ाद थे। तजामुल हुसैन ने इस आशय का एक असफल प्रस्ताव भी पेश किया कि संविधान में साफ साफ कहा जाय कि लोगों को अपने धर्म का अभ्यास करने और उसे मानने का अधिकार केवल निजी तौर पर है।[50]

संवैधानिक आदर्श के रूप में धर्मनिरपेक्षता की दूसरी समझ ने धर्म को एक सार्वजनिक संस्था के रूप में मान्यता देने की मांग की जहां राज्य उन सभी को बराबर सम्मान दे।

के. एम. मुंशी ने कहाः हम गहरी धार्मिक आस्था वाले लोग हैं। साथ ही हमारे यहां धार्मिक सहिष्णुता की एक जीवित परंपरा है – हिंदू धर्म का व्यापक दृष्टिकोण इसी का परिणाम है कि सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाते हैं ... इस स्थिति को देखते हुए, हमारे राज्य में संभवतः एक राज्य धर्म नहीं हो सकता, न ही राज्य और धर्म के बीच कठोर सीमा बनाई जा सकती है जैसे अमेरिका में है। [51]

इस प्रकार, संविधान सभा प्रस्तावना में पंथनिरपेक्षता को शामिल करने के लिए सहमत नहीं थी, लेकिन हर स्पीकर ने दिखाया कि पंथनिरपेक्षता के मूल आधार पर कोई असहमति नहीं थी, यानि कि सभी लोगों को अपने विश्वास का पालन करने की आज़ादी है और राज्य धर्म के आधार पर लोगों के साथ भेदभाव नहीं करेगा।

इसलिए हमने एक ऐसा भारतीय राज्य बनाया है जिसका कोई धार्मिक रंग नहीं है लेकिन जहां सभी धर्मों का बराबर सम्मान है। साथ ही किसी भी धर्म को राज्य का संरक्षण नहीं मिलेगा।

एसआर बोम्मई बनाम भारत संघ 52 में सर्वोच्च न्यायालय ने पाया कि पंथनिरपेक्षता भारतीय संविधान की मूल संरचना का हिस्सा था और यह भी निष्कर्ष निकाला कि 42वें संशोधन ने केवल वही साफ किया जो भारतीय संविधान में बसा हुआ था।

> *इस बात के बावजूद कि 1976 में 42वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवादी' और 'पंथनिरपेक्ष' शब्द जोड़े गए थे, पंथनिरपेक्षता की समझ हमारे संवैधानिक दर्शन में बहुत गहरे बसी थी। 'पंथनिरपेक्ष' शब्द को समझाया नहीं गया है क्योंकि यह एक बहुत ही लचीला शब्द है जिसकी सटीक परिभाषा नहीं हो सकती और इसे बिना समझाए छोड़ देना ही बेहतर है। इस संशोधन से जो गहरे बसा था वह साफ हो गया। प्रस्तावना में ही विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना की आजादी की बात की गई थी। यह आज़ादी देते हुए प्रस्तावना ने प्रतिष्ठा और अवसर की समता का वादा किया। इसने बंधुत्व को बढ़ावा देने की भी बात कही, जिससे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित हो सके। अपने नागरिकों को विश्वास, आस्था और उपासना की आजादी देते हुए, संविधान ने धर्म के आधार पर भेदभाव को नकार दिया... ।* [53]

"*इस बात के बावजूद कि 1976 में 42वें संशोधन द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवादी' और 'पंथनिरपेक्ष' शब्द जोड़े गए थे, पंथनिरपेक्षता की समझ हमारे संवैधानिक दर्शन में बहुत गहरे बसी थी।'पंथनिरपेक्ष' शब्द को समझाया नहीं गया है*

क्योंकि यह एक बहुत ही लचीला शब्द है जिसकी सटीक परिभाषा नहीं हो सकती और इसे बिना समझाए छोड़ देना ही बेहतर है। इस संशोधन से जो गहरे बसा था वह साफ हो गया।"

अदालत ने तब धर्म के अभ्यास के संबंध में मौलिक अधिकारों की सूची दी और साफ साफ यह निष्कर्श निकाला कि *'ये मौलिक अधिकार अनुच्छेद 15, 16 और 25 से 30 में निहित हैं और इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे संविधान के मूल ढांचे का हिस्सा हैं।'*

समाजवादी

'समाजवादी' शब्द प्रस्तावना के उस मूल पाठ का हिस्सा नहीं था जिसे संविधान सभा ने अपनाया था, बल्कि ये उन शब्दों में से एक था जिसे 1976 में 42 वें संशोधन के जरिए जोड़ा गया था।

संविधान सभा में प्रो. के टी शाह ने '*धर्मनिरपेक्ष, संघीय, समाजवादी*' को संविधान में शामिल करने के लिए संषोधन पेष किया था।[54] डॉ. अम्बेडकर को इस संशोधन से आपाित्त थी और उन्होंने इसे गैर जरूरी बताया था, उनके जवाब ने 'समाजवादी' शब्द को प्रस्तावना में शामिल करने की उनकी अनिच्छा को साफ किया।

राज्य की नीति क्या होनी चाहिए, समाज को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू में कैसे संगठित किया जाना चाहिए, ये ऐसे मामले हैं जो लोगों को समय और हालात के हिसाब से खुद ही तय करने होंगे। इसे संविधान में निर्धारित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इससे लोकतंत्र पूरी तरह नष्ट हो जाएगा। अगर आप संविधान में ही कह देते हैं कि राज्य का सामाजिक

संगठन एक विशेष रूप लेगा, तो आप मेरे हिसाब से लोगों की यह तय करने की आज़ादी छीन रहे हैं कि वे किस सामाजिक संगठन में रहना चाहते हैं। आज अधिकतर लोगों के लिए यह मानना पूरी तरह से संभव है कि समाज का समाजवादी संगठन समाज के पूंजीवादी संगठन से बेहतर है। लेकिन सोचने वाले लोगों के लिए यह भी पूरी तरह से संभव होगा कि वो ऐसे सामाजिक संगठन के किसी अन्य रूप को विकसित कर सकते हैं जो आज या कल के समाजवादी संगठन से बेहतर हो सकता है।

उन्हें यह भी लगा कि मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के कुछ प्रावधानों में समाजवाद की भावना पहले से ही समाहित है। सभा ने ऐसा कर भारतीय राजनीति को एक समाजवादी दिशा दी और साथ ही उसे किसी शर्त से नहीं बांधा।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य [55] में सर्वोच्च न्यायालय ने समाजवाद को भारतीय संविधान की मूल संरचना का हिस्सा माना है। जो लोग आम तौर पर एक ताकतवर राजनीतिक बहुमत के आखिरी सिरे पर होंगे उनके लिए *केशवानंद* में समतावाद और कल्याणकारी राज्य को सांविधान के मूल ढांचे का हिस्सा माना गया है।

जस्टिस हेगड़े और मुखर्जी ने कहाः

मामले के अलग अलग पहलुओं पर ध्यान से सोचने पर, हम इस बात से सहमत हैं कि संसद के पास संविधान के मूल तत्वों या मौलिक विशेषताओं जैसे कि भारत की संप्रभुता, हमारी नीति का लोकतांत्रिक चरित्र , देश की एकता, नागरिकों के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आवश्यक विशेषताओं की सुरक्षा को निरस्त करने या खत्म करने की कोई ताकत नहीं है। न ही संसद के पास एक कल्याणकारी राज्य और समतावादी समाज के निर्माण के जनादेश को खत्म करने की ताकत है। [56]

न्याय

संविधान बनाने वालों ने चार प्राथमिक खंभों के बारे में सोचा जिन पर भारत का लोकतंत्र खड़ा किया जाना था: न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व। '*सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय*' भारतीय संविधान में ऐतिहासिक गैर बराबरी और अन्यायों को दूर करने की कसम का प्रतीक है। और यह मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के जरिए मिलेगा।

प्रस्तावना में 'न्याय' के रूप पर टिप्पणी करते हुए संविधान के एक आला मसौदाकार अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने कहा:

> *'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' के कम होने के बारे में एक और टिप्पणी थी। हालांकि 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' इस देश और सभा को किसी खास पदनाम के तहत आने वाले किसी खास राजनीति के लिए कसम नहीं खिलाता लेकिन इसका मकसद आज के दौर में हर लोकतांत्रिक राज्य के मौलिक उद्देश्य पर जोर देना है। निःसंदेह बनाये जाने वाले संविधान में एक प्रगतिशील समाज के लिए विकास और समायोजन के जरूरी हिस्से शामिल होंगे।* [57]

केशवानंद भारती [58] में सर्वोच्च अदालत ने 'न्याय' को मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की नज़र से समझाया है:

> *आगे यह तर्क दिया गया है कि प्रस्तावना में कही गई बातें, जैसे, मानव गरिमा, सामाजिक और आर्थिक न्याय साफ नहीं हैं। अलग अलग विचारधाराओं के लोग उनकी अलग–अलग समझ रखते हैं। हम इस विवाद को सुलझाने में पूरी तरह असमर्थ हैं। लंबी बहसों के बाद प्रस्तावना को अमली जामा पहनाया गया और इसे सबसे आखिर मे ही अपनाया गया ताकि यह संविधान की बनावट, संरचना, अंदर बसे मूलभूत तत्वों को शामिल कर सके। यह सच है कि सामाजिक और आर्थिक*

न्याय जैसे मुद्दों पर अलग अलग समझ हो सकती है लेकिन संविधान बनाने वालों को मालूम था कि उन मुद्दों से उनका क्या मतलब है और उन्हें ही लागू करने के लिए उन्होंने भाग III (मौलिक अधिकार) और भाग IV (राज्य नीति के निदेशक तत्व) ––जो मौलिक चरित्र के थे–– उन्हें लागू किया जिससे उन्होंने एक ओर व्यक्ति की बुनियादी स्वतंत्रता को कानूनी बनाया और दूसरी ओर आने वाली सरकारों को सामाजिक सुरक्षा, न्याय और शोषण से आज़ादी के लिए मार्गदर्शक तत्वों को तय किया।

ये मजेदार बात है कि न्याय पर भी कम ही चर्चा और बहस हुई। डॉ. अम्बेडकर सामाजिक न्याय के घोर समर्थक थे और एक ऐसे न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए प्रयासरत थे जो सामाजिक विकलांगताओं को दूर कर सके और समान अवसर को बढ़ावा दे। इसके साथ ही आर्थिक न्याय की उनकी समझ जो 'आर्थिक स्वतंत्रता' नामक अध्याय में साफ है, आज़ादी की लड़ाई की उनकी कल्पना का मूल बना। इसे पाने के लिए, उन्होंने एक बार फिर स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की पवित्र त्रिमुर्ति का आहवाहन किया। उनके हिसाब से अगर भारतीय समाज ने स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को आत्मसात कर लिया, तो न्याय खुद ब खुद आ जाएगा। दरअसल उन्होंने न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की समझ के बीच कोई खास अंतर नहीं देखा।[59]

स्वतंत्रता

प्रस्तावना विचार, अभिव्यक्ति, आस्था, पूजा और उपासना की स्वतंत्रता जैसे मूल विचारों को एक अटूट प्रतिबद्धता देती है। हमें स्वतंत्रता की बड़ी समझ पर ध्यान देना होगा– यह केवल धार्मिक स्वतंत्रता नहीं है बल्कि उसके साथ ही विचार और अभिव्यक्ति की भी स्वतंत्रता है। भारत के लोगों को सोचने अभिव्यक्त करने, विश्वास करने और पूजा करने की स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता की यह बड़ी समझ अब हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक और कानूनी चेतना का हिस्सा बन गई है। दो उदाहरणों से देखते हैं कि अदालतों ने स्वतंत्रता की इस समझ की व्याख्या इसके कई पहलुओं की ओर इशारा करने के

लिए कैसे की है।

देशद्रोह की वैधानिकता

जब बोलने और अभिव्यक्ति की आजादी की बात आती है तो हमने आईपीसी की धारा 124–ए के औपनिवेषिक प्रावधान के तहत महात्मा गांधी के देशद्रोह के मुकदमे का जिक्र किया। *केदार नाथ सिंह बनाम बिहार राज्य* [60] में सर्वोच्च अदालत ने इस प्रावधान की संवैधानिकता को बरकरार रखा है, लेकिन इसे केवल उस बोलने तक सीमित रखा है जो हिंसा भड़का सके।

सर्वोच्च अदालत ने साफ कहा है:

> *लेकिन धारा ने साफ साफ यह इशारा किया है कि सरकार के कदमों का उनके सुधार या कानूनी तरीकों से बदलाव के लिए जाहिर किए गए कठोर शब्द इस धारा के भीतर नहीं आएंगे। इसी तरह, सरकार के काम के खिलाफ चाहे कितने भी कठोर शब्दों में टिप्पणियां हों जब तक वो हिंसा की भावना ना भड़का रही हों दंडनीय नहीं होंगी। दूसरे शब्दों में, कानून द्वारा स्थापित सरकार के खिलाफ बेवफाई, सरकार या उसकी एजेंसियों के कामों पर कड़े शब्दों में लोगों की हालत सुधारने या इन कदमों को कानूनी तरीकों से रद्द करने, यानि कि जन गण के मन में बिना खटास पैदा किए या हिंसा के लिए उकसाए टिप्पणी करने के बराबर नहीं है।* [61]

> *"ये बेहद जरूरी है कि नागरिक असहमति के अधिकार के दायरे की सराहना करें और यह सुनिष्चित करने के लिए राज्य पर दबाव डालते रहें कि यह सभी नागरिकों का अधिकार है कि वे, जैसा गांधी कहते हैं, 'जब तक वह हिंसा के बारे में ना सोचें, बढ़ावा ना दें या उसे*

भड़काएं तब तक वह अपनी असहमति की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए' सुरक्षित हैं।"

बलवंत सिंह बनाम भारतीय संघ[62] में सर्वोच्च अदालत ने इस सवाल पर फैसला किया कि इंदिरा गांधी की हत्या के दिन भीड़ द्वारा 'खालिस्तान जिंदाबाद' के नारे लगाना दशद्रोह है। सर्वोच्च अदालत ने कहाः
'*यह मानना हमारे लिए मुश्किल है कि बिना किसी और काम के एक–दो बार इस तरह के लापरवाह नारे लगाने पर देशद्रोह लगाया जा सकता है'।* सुप्रीम कोर्ट ने मामला दायर करने वाले पुलिसकर्मियों को यह कहते हुए डांटा कि, *'हमें नहीं लगता है कि पुलिस को दो अपीलकर्ताओं द्वारा एक–दो बार लगाए गए लापरवाह नारों को बहुत महत्व देना चाहिए था और पुलिस ने उसमें कुछ ज़्यादा ही ध्यान दे दिया।'*

अदालत ने निष्कर्ष निकाला कि, *'अभियोजन पक्ष ने माना है कि अपीलकर्ताओं द्वारा नारे लगाने के कारण कोई गड़बड़ी नहीं हुई थी और अपीलकर्ताओं के नारे लगाने के बाद भी लोगों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ा और वे अपनी काम किए जा रहे थे। दो आदमियों के एकाध बार नारे लगाने को कानून द्वारा स्थापित सरकार के प्रति नफरत या असंतोष फैलाने या भड़काने की कोशिश नहीं कही जा सकती, इन सबूतों और गवाहों के मद्देनजर धारा 124 ए आईपीसी यहां नहीं लगाई जा सकती है।'*

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सर्वोच्च अदालत की बोलने की समझाई बात उन सभी सरकारों ने नहीं सराहा या समझा है जिन सब ने जानबूझकर देशद्रोह कानून के दायरे की गलत व्याख्या की है और इसका इस्तेमाल हर उस वैध बोलने को लक्षित करने के लिए किया है जो सरकार की आलोचना करती है। ये बेहद जरूरी है कि नागरिक असहमति के अधिकार के दायरे की सराहना करें और यह सुनिश्चित करने के लिए राज्य पर दबाव डालते रहें कि यह सभी नागरिकों का अधिकार है कि वे, जैसा गांधी कहते हैं, *जब तक वह हिंसा के बारे में ना सोचें, बढ़ावा ना दें या उसे भड़काएं तब तक वह अपनी असहमति की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए'* सुरक्षित हैं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में अपनी जेंडर पहचान व्यक्त करने का अधिकार शामिल है।

पारंपरिक कानूनी किताबों में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को एक ऐसे तरीके के रूप में देखा जाता है जिसके माध्यम से कोई अपनी सोच और विचार व्यक्त करता है, चाहे वह नाटकों, फिल्मों, किताबों या सोशल मीडिया पोस्ट के माध्यम से हो। हालाँकि, सर्वोच्च अदालत ने *नालसा बनाम भारतीय संघ* के अपने मशहूर फैसले में 'अभिव्यक्ति' की समझ को बढ़ाया जिसमें अदालत ने माना कि ट्रांसजेंडर व्यक्ति भारतीय संविधान के तहत सभी अधिकारों के हकदार हैं।

जज के अनुसारः

> *संविधान के अनुच्छेद 19(1) (ए) में कहा गया है कि सभी नागरिकों को बोलने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा, जिसमें अपने खुद की पहचान के जेंडर की अभिव्यक्ति का अधिकार भी शामिल है। खुद की पहचान का जेंडर कपड़े, बोलचाल, काम या व्यवहार या किसी दूसरे तरीके से व्यक्त किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 19 (2) में निहित प्रतिबंधों के तहत किसी की भी व्यक्तिगत वेशभूषा की पसंद पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता है।* [63]

इस मामले में जजों ने ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के 'वेशभूषा, काम और व्यवहार' के जरिए अपने जेंडर को व्यक्त करने के अधिकार को मान्यता देकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार को एक नया आयाम दिया। जजों ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को साफ साफ गरिमा और समता की धारणा से जोड़ा है और ट्रांसजेंडर व्यक्तियों को देश के पूर्ण नागरिक के रूप में मान्यता दी है।

यह फैसला इस बात का उदाहरण है कि कैसे एक विकसित समाज के संदर्भ में संविधान की व्याख्या की जा सकती है और इसकी समय के हिसाब से आने वाली जरूरतों को पूरा किया जा सकता है। जैसा कि जे. खन्ना ने केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य में कहा:

> *प्रत्येक पीढ़ी अपने सामने कुछ पसंदीदा चीज तय करती है जिसे वह स्वतंत्रता और खुशी के विषय के रूप में अपनाती है। स्वतंत्रता के आदर्श पीढ़ी–दर–पीढ़ी तय नहीं किए जा सकते केवल उसकी अवधारणा की जा सकती है, वो जो भी है उसकी केवल एक बड़ी परछाईं। ना बदल सकने वाले कानून में तय की गई आज़ादी कोई भी आज़ादी नहीं होगी।* [64]

समता

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने संविधान सभा के अपने समापन भाषण में राजनीतिक लोकतंत्र को बनाए रखने के लिए सामाजिक लोकतंत्र बनाने की कोशिश करने की अहमियत की बात की। उनके मुताबिक इसे तभी महसूस किया जा सकेगा जब हम स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांतों की तरह मानें। हालाँकि, उन्हें इस बात की चिंता थी कि आज़ादी के बाद भारत पूरी तरह से अराजक हो जाएगा क्योंकि लोगों में एक देश से जुड़े होने की भावना पर जाति/पंथ के जुड़ाव की भावना ज़्यादा हावी हो जाएगी। उन्होंने आगे कहा:

> *हमें इस बात को मानकर चलना चाहिए कि भारतीय समाज में दो चीजें बिल्कुल नहीं हैं। इन्हीं में से एक है बराबरी। हमारे पास सामाजिक धरातल पर भारत में श्रेणीबद्ध असमानता के सिद्धांत पर आधारित एक समाज है जिसमें कुछ ऐसे लोग हैं जिनके पास अकूत धन है, जबकि कई लोग घोर गरीबी में रहते हैं। 26 जनवरी 1950 को हम अंतर्विरोधों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। हमारे पास राजनीति में समानता होगी*

> *जबकि सामाजिक और आर्थिक जीवन में असमानता।* [---] *हम कब तक अंतर्विरोधों का यह जीवन जीते रहेंगे? हम कब तक अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में समानता को नकारते रहेंगे? अगर हम इसे लंबे समय तक नकारते रहे, तो हम अपने राजनीतिक लोकतंत्र को जोखिम में डाल देंगे। हमें इस अंतर्विरोध को जल्द से जल्द दूर करना चाहिए, नहीं तो जो लोग असमानता से पीड़ित हैं, वे राजनीतिक लोकतंत्र के उस ढांचे को तबाह कर देंगे, जिसे इस सभा ने बड़ी मेहनत से बनाया है।*[65]

वास्तविक समता भी शामिल थी। समता की उनकी समझ में ये बात शामिल थी कि खास व्यवहार समता को रोकते नहीं हैं बल्कि वास्तव में इसके अभिन्न अंग थे।

इसलिए एक ऐसी संवैधानिक योजना तैयार करने का लक्ष्य था जिसमें न केवल यह माना जाए कि सभी के साथ उचित व्यवहार किया जाए बल्कि उन आधारों को सक्रिय रूप से पहचाने जिनके आधार पर उत्पीड़ित समुदायों के साथ भेदभाव किया जाता है और इस तरह की ढाँचागत असमानता को दूर करने के लिए पूरी तरह से प्रयास किया जाता है।

भारतीय संविधान की नजर से *औपचारिक* और *वास्तविक* समता के अंतर को समझना जरूरी है। एक कानून जो *औपचारिक* समता की समझ के हिसाब से होगा, अनातोले फ्रांस के शब्दों में, 'अपनी शानदार समानता में, *अमीर और गरीब* दोनों को पुलों के नीचे सोने, गलियों में भीख मांगने और रोटी चुराने से रोकता है।' दूसरी ओर *वास्तविक* समता के लिए प्रतिबद्धता ऐसे कदमों के बारे में सोचेगी जो यह तय करे कि गरीबों को 'पुलों के नीचे सोना, गलियों में भीख माँगना या रोटी चुराना न पड़े'।

जैसा कि हम जानते हैं भारत जाति, धर्म और/या जेंडर के आधार पर लोगों के बीच बहुत सी गैर–बराबरियों वाला अंतर्विरोधों का देश है। ऐसे असमान समाज में आप समता कैसे प्राप्त करते हैं? यदि आप *औपचारिक* समता के लिए ही प्रतिबद्ध रहते हैं तो क्या यह दमित लोगों को शीर्ष पर बैठे लोगों

के साथ समान रूप से प्रतिस्पर्धा करने का मौका देगी?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनके जवाब भारतीय संविधान *मौलिक* समता के लिए अपनी प्रतिबद्धता के जरिए देने का प्रयास करता है। *मौलिक* समता के लिए यही प्रतिबद्धता राज्य को अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्ग के नागरिकों के लिए सरकारी नौकरियों और शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में सीटें आरक्षित करने के लिए बाध्य करती है। *केरल राज्य बनाम एन. एम. थॉमस,*[66] में सर्वोच्च अदालत ने राय दी कि आरक्षण समता का अपवाद नहीं है बल्कि *वास्तविक* समता पाने का तरीका है। आरक्षण वर्ग और जेंडर जैसी ढाँचागत असमानताओं को दूर करने का एक औजार है जो हाशिये के लोगों को शिक्षा और रोजगार में हिस्सेदारी का मौका देता है। इसलिए, उत्पीड़ित समूहों के लिए आरक्षण लोगों के बीच ढाँचागत असमानताओं को पहचानने और उनका निवारण करने का एक तरीका है। यह *वास्तविक* समता के लिए भारत के संविधान की प्रतिबद्धता का एक उदाहरण है।

औपचारिक और *वास्तविक* समता के बीच अंतर को बेहतर ढंग से समझने के लिए एक और उदाहरणः भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 377 [67] देखते हैं (जिसे अब सर्वोच्च अदालत ने रीड डाउन (उसके दायरे के सीमित) कर दिया है) जिसके तहत कानून सभी लोगों को लिंग–योनि संभोग के अलावा किसी भी और तरह का यौन संबंध बनाने से रोकता है। जिस प्रकार बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों पर इस तरह का प्रतिबंध लगाया गया है उसे देखकर पहली नजर में यह प्रावधान सही मालूम होता है। इसलिए, अगर इसे *औपचारिक* समता के नजरिए से देखा जाए तो यह समता की परीक्षा पास कर लेगा।

हालांकि इसे करीब से देखने से पता चलता है कि सहमति के बावजूद कुछ यौन कृत्यों को अपराध घोषित करने का कानून LGBTQI समुदाय पर कहीं अधिक गंभीर प्रभाव डालता है। कानून ने इस बात को नजर अंदाज किया कि मना किए गए यौन कृत्य LGBTQI समुदाय से गहरे जुड़े हुए थे और इस तरह इसने समुदाय के राज्य की निगरानी के बगैर मौलिक निजी चुनाव के अधिकार को मनमाने तरीके से छीन लिया। समुदाय को इस भेदभाव वाले कानून के चलते लगातार डर के साये में जीना पड़ा जो कि अनुच्छेद 14

के कानून के समान संरक्षण के अधिकार का उल्लंघन करता था।

इसलिए हालांकि ये कानून तटस्थ मालूम होता था यह *मौलिक* समता के अधिकार का हनन करता था।

इससे यह समझ आता है कि संविधान में मौलिक अधिकारों का अध्याय क्यों उन प्रावधानों की एक श्रृंखला की गिनती करता है जो असमानता के विभिन्न रूपों को संबोधित करते हैं और विधायिका को समाज के कुछ वर्गों में अंतर को पहचानने और उन्हें खास उपचार देने की अनुमति देते हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 14 कानून के समान व्यवहार और संरक्षण की गारंटी देता है, अनुच्छेद 15 भेदभाव से बचाव के लिए है, अनुच्छेद 16 अवसर में समानता का वादा करता है और साथ ही कुछ लोगों और समूहों के साथ खास व्यवहार की अनुमति देता है, अनुच्छेद 15(4) और 16(4) राज्य को पिछड़े वर्गों के नागरिकों के लिए शैक्षिक प्रतिष्ठानों के साथ–साथ सरकारी नौकरियों में आरक्षण देने की अनुमति देता है। अनुच्छेद 17 छुआछूत को खत्म करता है, अनुच्छेद 23 बंधुआ मजदूरी और अनुच्छेद 24 बाल श्रम को असंवैधानिक घोषित करता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि संविधान राज्य और नागरिक के संबंधों में मध्यस्थता करते हैं और व्यक्ति को कुछ प्राथमिक अधिकार प्रदान करते हैं जिन्हें राज्य के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है। इसे अधिकारों का सीधा इस्तेमाल कहते हैं। हालांकि, समता की वास्तविक नजर से गहराई से प्रभावित, भारतीय संविधान एक कदम आगे बढ़कर निजी पार्टियों के खिलाफ भी मौलिक अधिकारों को मान्यता देता है जो मौलिक अधिकारों के सपाट इस्तेमाल की अनुमति देता है।

उदाहरण के लिए अनुच्छेद 15 (2), जाति, धर्म, नस्ल, जेंडर के आधार पर बिना भेदभाव के सार्वजनिक जगहों जैसे दुकानों, सार्वजनिक रेस्तरां, होटल, सार्वजनिक मनोरंजन की जगहों, कुओं, तालाबों आदि तक पहुंचने के नागरिकों के अधिकार को मानता है और यह अधिकार निजी नागरिकों के खिलाफ भी लागू किया जा सकता है।

समता भारत के संविधान के केंद्र में है। समता की यह समझ जो संविधान में निहित है, सामान्य लोगों द्वारा अन्याय के खिलाफ अपनी लड़ाईयों में इस्तेमाल की गयी है। रोहित डे अपनी उल्लेखनीय पुस्तक, 'द पीपल्स कॉन्स्टिट्यूशन' में तर्क देते हैं कि जब संविधान लागू हुआ तो हाशिए के समूहों जैसे यौनकर्मियों, कसाईयों और छोटे व्यापारियों ने संविधान की भाषा का इस्तेमाल उन कानूनों को चुनौती देने के लिए किया जिन्होंने उन्हें असमान बना दिया था।

अब हम जेंडर की नजर से से समानता के संवैधानिक आदर्श को समझेंगे।

कानून में जेंडर संबंधी रूढ़ियों को चुनौती देना

जैसा कि ऊपर लिखा है समता का जनादेश समाज के साथ–साथ राज्य द्वारा भेदभाव के खिलाफ समान रूप से लागू होता है। इस खंड में सर्वोच्च अदालत ने जो महिलाओं के सामने आने वाली प्रमुख समस्याओं में से एक–– उनकी भूमिका को लेकर रुढ़िवादी धारणाएं जो कानून में रची बसी हैं–– उन्हें संबोधित करके जेंडर के संदर्भ में समता की व्याख्या की है।

सर्वोच्च अदालत ने सबसे पहले *अनुज गर्ग बनाम होटल एसोसिएशन ऑफ इंडिया* [68] में जेंडर आधारित रूढ़िवादिता के मुद्दे को समता के सिद्धांत के उल्लंघन के रूप में माना था। *अनुज गर्ग* में पंजाब आबकारी अधिनियम की धारा 30 की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी गई थी। अधिनियम की धारा 30 के तहत 25 वर्ष से कम आयु के आदमी और किसी भी औरत को किसी भी ऐसी जगह काम करने का अधिकार नहीं था जहां उस जगह के किसी भी हिस्से में शराब या कोई दूसरा नशा किया जा रहा हो।

पहली नजर में देखने पर पंजाब आबकारी अधिनियम का उद्देश्य 'महिलाओं की रक्षा' करना हो सकता है लेकिन कानून का यह प्रावधान उस विचार

को मजबूत करता है जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने 'रोमांटिक पितृत्ववाद' कहा। कोर्ट ने अमेरिकी सर्वोच्च अदालत के एक फैसले का हवाला देते हुए कहा कि,

> *परंपरागत तौर पर इस तरह के भेदभाव को 'रोमांटिक पितृत्ववाद' की नजर से सही बताया गया था, जो असल में औरतों को एक आसन पर नहीं, बल्कि एक पिंजरे में डाल देता है। इस तरह की समझ के चलते हमारी कानून की किताबें धीरे–धीरे लिंगों के बीच के स्थूल, रूढ़िबद्ध भेदों से लद गईं।*

अदालत ने *अनुज गर्ग* में निष्कर्ष निकाला कि '*वर्तमान कानून सुरक्षा के नाम पर अपने लोक को परेशान करता है।*' अदालत ने इस प्रावधान को रद्द कर दिया क्योंकि यह *रूढ़िबद्ध नैतिकता और यौन भूमिका की समझ के कभी ना हो सकते वाले तय नियमों* से प्रभावित है और इसके चलते औरतों से भेदभाव करता है।

अदालत ने जोसफ शाइन बनाम भारतीय संघ 69 के मामले में भारतीय दंड संहिता की धारा 497 [70] को रद्द कर दिया, यह व्यभिचार को दंडनीय अपराध घोषित करता था। इस धारा में सिर्फ उस आदमी को दोषी माना जाता था जो शादी शुदा औरत के साथ सेक्स करे लेकिन उस औरत को नहीं। पहली नजर में यह कहा जा सकता है कि इस कानून को औरतों को बचाने के लिए बनाया गया था क्योंकि यह सिर्फ पुरुषों को व्यभिचार के लिए दंडित करता है, लेकिन जजों ने अपनी गहरी खोज में इस प्रावधान को भारतीय दंड संहिता 1860 से जुड़ा पाया। ऐतिहासिक नजर से देखने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि व्यभिचार के मामले में सिर्फ आदमी को इसलिए दंडित किया जाता है क्योंकि पुराने ब्रितानी कानूनों के हिसाब से एक औरत अपने पति की जायदाद होती है और व्यभिचार का अपराधीकरण दरअसल यही दिखाता है कि एक आदमी ने दूसरे शादी शुदा आदमी की जायदाद पर दखल देने की कोशिश की (यहां जायदाद का मतलब उसमें शादी शुदा आदमी की पत्नी है)। और क्योंकि एक पत्नी अपने पति की जायदाद होती है तो उसे सेक्स के मामलों में किसी भी प्रकार का चुनाव करने की आज़ादी

नहीं है। कोर्ट ने भारतीय दंड संहिता के सेक्शन 497 को हटाने के लिए निम्नलिखित कारण दिए:

> *एक औरत की ''पवित्रता'' और एक पुरुष का उस पर यौनिक कब्जा होने का वैवाहिक अधिकार सिर्फ 19वीं सदी के पुराने सामाजिक और यौन व्यवहार को दिखाता है जो आज के समय में तार्किक नहीं है। कोई भी कानून राज्य की ''सामान्य नैतिकता'' की बजाय संवैधानिक नैतिकता से प्रेरित होना चाहिए। किसी भी लोकतंत्र में संवैधानिक नैतिकता कुछ अधिकारों को दिए जाने का भरोसा देती है जिससे कि समाज के सभी लोग आज़ाद, बराबर और गरिमामय तरीके से रह पाएं।*
>
> *सेक्शन 497 (जो व्यभिचार को जुर्म मानता है) औरत से ये मानकर उसके मूलभूत चुनावों की आज़ादी ले लेता है कि एक शादी के रिश्ते में सिर्फ एक आदमी ही अपनी बीवी को यह रजामंदी दे सकता है कि वह किसी और के साथ सेक्स करे। सेक्शन 497 एक महिला की यौनिक स्वायत्तता को दरकिनार करता है जो उसके अस्तित्व का एक जरूरी हिस्सा है।*
>
> *एक जैसे रिश्ते में एक बराबर की साथी होने की बजाय यह कानून एक औरत को सिर्फ अपने पति की मनमर्जी पर छोड़ देता है। एक शादी के रिश्ते और जिंदगी के दूसरे पहलुओं में खुद के फैसले लेने की आज़ादी को संविधान सुरक्षित करता है। औरत की इस आजादी को दरकिनार कर केवल आदमी की ही आज़ादी को मानने वाली धारा 497 शादी में आज़ादी के मौलिक अधिकार की मूल भावना के खिलाफ है।* [71]

अनुज गर्ग और जोसफ शाइन दोनों में अदालत ने संविधान में बसे समता के मूल को आगे बढ़ाने की भूमिका अदा की है। इसी तरह *नवतेज सिंह जोहर* में सर्वोच्च अदालत ने भारतीय दंड संहिता की धारा 377 को रीड

डाउन करते हुए कहा कि यह धारा दूसरी चीजों के साथ साथ LGBTQI समुदाय के लोगों के खिलाफ रूढ़िवादी सोच को बढ़ाती थी।[72]

कानूनों में हो रहे बदलाव को हम संविधान की प्रस्तावना में बसे समता के मौलिक वादे से जोड़कर देख सकते हैं और इससे पीछे जाकर यह भी की आजादी की लड़ाई असल में बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों की समता के लिए लड़ी गई थी।

बंधुत्व

आकाश सिंह राठौर ने *अम्बेडकर्स प्रीएम्बल* में यह दिखाया है कि प्रस्तावना में सबसे खास अंबेडकरवादी योगदान बंधुत्व और गरिमा की भावना है।[73] यह दोनों भावनाएं प्रस्तावना के पहले आए हुए दस्तावेजों से नदारद थी, चाहे वह पूर्ण स्वराज संकल्प हो या उद्देश्य संकल्प या विशेषज्ञ समिति, 1946 की घोषणा।

डॉ. अंबेडकर के लिए बंधुत्व क्यों जरूरी था? इसका अंदाजा हम इस बात से लगा सकते हैं कि डॉ. अंबेडकर ने अपनी जिंदगी में जिस सामाजिक भेदभाव का सामना किया उसका कारण था बंधुत्व की भावना की कमी। *वेटिंग फॉर वीजा* [74] में डॉ. अंबेडकर ने जातिगत भेदभाव के अपने खुद के अनुभवों के बारे में बताया है। वो बताते हैं कि कैसे उन्हें स्कूल में अपने साथ पढ़ने वाले बच्चों से अलग एक बोरी पर बैठाया जाता था जिसे उन्हें खुद ही घर से लाना पड़ता था क्योंकि वो एक ''अछूत'' थे। अगर उन्हें प्यास लगती तो उन्हें इंतजार करना पड़ता था। चपरासी उन्हें सार्वजनिक नल से पानी दे क्योंकि उन्हें उसे छूने की अनुमति नहीं थी। ऐसे एक और वाकये में वह बताते हैं जब एक तांगे वाले को मालूम चला कि वो किस जाति के हैं तो उसे 'घिन' महसूस हुई और उसने उन्हें और उनके तीन भाई–बहनों को कोरेगांव ले जाने से मना कर दिया जहां उनके पिता रहते थे क्योंकि वो खुद को 'गंदा' नहीं करना चाहता था।

इस पृष्ठभूमि के खिलाफ डॉ. अंबेडकर बंधुत्व की भावना को आगे लाते हैं। बंधुत्व की ये भावना उनकी निजी जिंदगी में अनुभव किए गए हिंदू जाति समाज में बसे सामाजिक भेदभाव के खिलाफ है। प्रस्तावना के मूल्यों में बंधुत्व को जोड़ने से डॉ. अंबेडकर ने समाज में अथाह प्रेम, करुणा, समानुभूति, परस्पर आदर और सामाजिक एकता को बढ़ावा देने की कोशिश है।

संविधान सभा में डॉ. अंबेडकर ने स्वतंत्रता और समता के रिश्ते को बंधुत्व के नज़रिये से देखा है।

> *स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के इन सिद्धांतों की त्रिमुर्ति को अलग–अलग विषयों के रूप में नहीं देखना चाहिए। इन तीन सिद्धांतों का मेलजोल कुछ ऐसा है कि अगर इनमें से किसी एक को भी दूसरे से अलग करके देखा गया तो यह लोकतंत्र को ही निराधार बना देगा। स्वतंत्रता को समता से अलग नहीं किया जा सकता, ना समता को स्वतंत्रता से और ना ही स्वतंत्रता और समता को बंधुत्व से अलग किया जा सकता है। बिना समता के स्वतंत्रता चंद लोगों की धौंस को जन गण पर हावी करेगा। बिना स्वतंत्रता के समता किसी भी तरह की खुद की पहल को नष्ट करेगी और बिना बंधुत्व के स्वतंत्रता और समता हालातों की बुनियाद में नहीं समाएगा। इसे बनाए बचाए रखने के लिए एक हवलदार लगेगा।* [76]

> *डॉ. अंबेडकर का कहना है कि जब बंधुत्व जीने का एक तरीका बन जाएगा तभी स्वतंत्रता और समता के बीच के टकराव को सुलझाया जा सकेगा।बंधुत्व को समता और स्वतंत्रता की तुलना में सौतेला व्यवहार मिला है और प्रस्तावना में बसे सिद्धांतों में इसपर सबसे कम बात हुई है। यहां तक की जो उद्देश्य संकल्प जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तावना से पहले पेश किया था। उसमें बंधुत्व का नाम भी नहीं था।* [77] *प्रस्तावना में बंधुत्व के होने का श्रेय डॉ. अंबेडकर को जाता है। ड्राफ्टिंग कमिटी (प्रारूप समिति) के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने बंधुत्व को प्रस्तावना में साफ तौर पर शामिल किया।*

बंधुत्व इन तीनों सिद्धांतों में एक खास जगह क्यों रखता है इसे उन्होंने और भी ठीक से समझाया है।

> *बंधुत्व का मतलब है सभी भारतीयों के बीच एक समान भाईचारे की भावना। ये सिद्धांत सामाजिक जीवन को एकता की भावना देता है। ऐसा करना मुश्किल है। क्योंकि, भारत में जातियां हैं। जातियां राष्ट्रविरोधी हैं। पहली बात तो ये कि ये सामाजिक जीवन में भेदभाव पैदा करती हैं। ये इसलिए भी राष्ट्रविरोधी हैं क्योंकि यह अलग–अलग जातियों के बीच हिंसा और नफरत पैदा करती हैं। लेकिन अगर हम असल में एक मुल्क बनना चाहते हैं तो हमें इन सभी कठिनाइयों से पार पाना होगा। बंधुत्व तभी एक सच्चाई बनेगी जब मुल्क होगा। बिना बंधुत्व के समता और स्वतंत्रता सिर्फ एक रंग की पुताई के समान होगा।* [78]

“जातियां राष्ट्रविरोधी हैं। पहली बात तो ये कि ये सामाजिक जीवन में भेदभाव पैदा करती हैं। ये इसलिए भी राष्ट्रविरोधी हैं क्योंकि यह अलग–अलग जातियों के बीच हिंसा और नफरत पैदा करती हैं।”

बेशक सबसे बड़ी चुनौती यही है कि बंधुत्व की भावना को कैसे बढ़ावा दिया जाए? कानून कैसे सबके लिए संस्कृति बनाए जो बंधुत्व की भावना को जीवन शैली बनाए? कैसे अलग–अलग जातियों के लोगों के बीच ऐसे जुड़ाव बनाए जाएं जो अंततः सभी तरह के भेदभाव की भावना खत्म कर दे? बंधुत्व को मुल्क का भाव बनाने के लिए कानून से आगे जाना होगा।

जब बात सामाजिक बदलाव के लिए लड़ाई की आती है तो ''व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दी अनटचेबल्स'' में डॉ. अंबेडकर ने कानून के बाहर की सामाजिक जगह की ओर इशारा किया है। गांधी के अस्पृष्यता निवारण संघ के काम के बारे में बोलते हुए वो *'सामाजिक समागम'* को बढ़ाने की बात करते हैं।

मुझे लगता है छूतों में अछूतों के लिए जैसी मतली मचती है संघ को उसे खत्म करने पर काम करना चाहिए क्योंकि इसी के चलते ये दो हिस्से इतने दूर हैं कि ये अलग इकाई बन गए हैं। मेरे हिसाब से इसे पाने का सबसे बेहतर तरीका इन दोनों को और करीब लाया जाना होगा। समान भागीदारी ही एक तरीका है जो साथ आने पर महसूस होने वाली विचित्रता की भावना से छुटकारा दिला सकता है। [79]

डॉ. अंबेडकर ने इस तरह के सामाजिक रिश्ते पर इसलिए ध्यान दिया क्योंकि वह मानते हैं कि '*छूतों और अछुतों को कानून से साथ नहीं रखा जा सकता, खास कर के ऐसे चुनावी कानून से तो बिल्कुल भी नहीं जो अलग अलग चुनाव क्षेत्रों की बजाय साझे चुनाव क्षेत्रों की बात करे। केवल प्रेम ही उन्हें जोड़े रख सकता है।* ' [80]
जाहिर है प्रेम की यह समझ इस आधार पर स्थापित है कि दलितों के मांगें वैध हैं।

उन्होंने कहा:

परिवार के बाहर केवल न्याय ही प्रेम की संभावना पैदा कर सकता है और यह अस्पृश्यता निवारण संघ की जिम्मेदारी है कि वो इस पर ध्यान दें कि अछूतों के साथ न्याय हो। मेरे हिसाब से इस संघ के काम का और कुछ भी मतलब नहीं है।"[81]

डॉ. अंबेडकर के लेखों से यह संकेत मिलता है कि इस बदलाव को लाने के लिए अंदरूनी जगहों में बसे खुद के पूर्वाग्रहों में को चुनौती देनी होगी।

"*इस गलतफहमी में मत रहिएगा कि आपसी मेलजोल और कुओं से पानी लाने की मनाहियों पर रोक लगने भर से ही छुआछूत की भावना खत्म हो जाएगी। अधिक से अधिक इससे केवल बाहरी दुनिया में दिखने वाले छुआछूत पर रोक लगेगी लेकिन अंदरूनी दुनिया में नहीं। इसके लिए हमें अंतर्जातीय विवाह के ऊपर लगी हुई रोक को हटाना होगा। जैसे ही ऐसा होगा घर के भीतर से छुआछूत खत्म हो जाएगा।*"

एनिहिलेशन ऑफ कास्ट (जाति का उन्मूलन) में जाति को खत्म करने के लिए अंतर्जातीय विवाह के सवाल पर वापस जोर देते हुए देखा जा सकता है:

> *मुझे विश्वास है कि असल निदान अंतर्जातीय विवाह ही है। खून के मिलने से ही एक परिवार की भावना बनेगी और जब तक नातेदारी की ये भावना सर्वोच्च नहीं बन जाती हम जाति की बनायी इस विभाजनकारी भावना–– अलग होने की भावना–– को मिटा नहीं सकते। जाति को तोड़ने का आसान उपाय अंतर्जातीय विवाह ही है और कुछ भी जाति को भंग करने का काम नहीं कर पाएगा।* [82]

डॉ. अंबेडकर का बंधुत्व के सिद्धांत की हिमायत करना समकालीन भारत में केवल जातीय ऊंच–नीच को ही नहीं बल्कि भारतीय समाज मे हर प्रकार के ऊंच–नीच को चुनौती देने के लिए जरूरी है।

> *"अंबेडकरवादी लेंस का इस्तेमाल कर हमें अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक प्रेम के रिश्तों और सामाजिक आयोजनों को केवल किसी व्यक्ति के प्रेम करने या मेलजोल करने के अधिकार तक सीमित कर नहीं बल्कि बंधुत्व की भावना को बढ़ाने की एक सक्रिय कोशिश के तौर पर देखना है। लोगों के जाति और धर्म के परे के प्रेम और मेलजोल के रिश्ते दरअसल संविधान की प्रस्तावना में बंधुत्व के वादे को आगे बढ़ाने का ही काम करते हैं।"*

जीने के भाईचारे के तरीके पर खुद को हिंदू धर्म के ठेकेदार बताने वाले गुंडों ने लगातार और गंभीर हमले किए हैं। दक्षिणपंथियों के कर्मों के चलते बंधुत्व पर हमले का एक उदाहरण (कई सारे ऐसे किस्सों में से) पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज, कर्नाटक के जारी किए मानवाधिकार केस

रिपोर्टों में दर्ज हैं जिनमें दक्षिण कन्नड़ क्षेत्र में सुनियोजित तरीके से अलग धर्मों से आने वाले युवाओं के सामाजिक और प्रेम संबंधों पर हमले हुए हैं।[83] दक्षिण पंथ गुंडागर्दी और हिंसा का इस्तेमाल कर केवल अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक मुहब्बतों को ही नहीं बल्कि ऐसे सामाजिक आयोजनों को भी रोकना चाहते हैं जहां लोग एक दूसरे के घरों में अलग धर्म के त्योहार मनाने, शादियों में या मिलने के लिए जाते हैं।[84]

अंबेडकरवादी लेंस का इस्तेमाल कर हमें अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक प्रेम के रिश्तों और सामाजिक आयोजनों को केवल किसी व्यक्ति के प्रेम करने या मेलजोल करने के अधिकार तक सीमित कर नहीं बल्कि बंधुत्व की भावना को बढ़ाने की एक सक्रिय कोशिश के तौर पर देखना है। लोगों के जाति और धर्म के परे के प्रेम और मेलजोल के रिश्ते दरअसल संविधान की प्रस्तावना में बंधुत्व के वादे को आगे बढ़ाने का ही काम करते हैं।

आज के भारत में इस बंधुत्व की भावना को आगे बढ़ाने का काम करने की एक कानूनी कोशिश विशेष विवाह अधिनियम, 1954 है जो समाज में जाति और धर्म की धौंस को कमजोर करने की कोशिश करता है।

हालांकि समाज में गहरे बसी जाति व्यवस्था या धर्म आधारित भेदभाव को चुनौती देने पर विरोध केवल समाज के भीतर से ही नहीं बल्कि राज्य की मशीनरी से भी होता है।

जवान लोग अगर आज भी धर्म और जाति के परे मुहब्बत करने की हिम्मत करते हैं तो उन्हें उनके ही परिवार वाले मार डालते हैं इससे हमें ये समझ आ जाना चाहिए कि जाति और धर्म से जुड़े भेदभाव की भावना कितनी गहरे बसी है। एक दलित आदमी शंकर की हत्या इसका साफ उदाहरण है। शंकर ने 2015 में प्रभावशाली जाति की कौशल्या से शादी की। रिश्ता तोड़ने की दोनों के परिवार की लगातार आने वाली धमकियों के बाद भी शंकर और कौशल्या साथ रह रहे थे। लेकिन 2016 में एक जानलेवा समूह ने उनपर उदामलपेठ बस टर्मिनस पर दिनदहाड़े हमला कर दिया। कौशल्या को इस हमले में गंभीर चोटें आईं और शंकर को 32 भयानक चोटें आने की वजह से जान से हाथ धोना पड़ा। कौशल्या के पिता चिन्नास्वामी और

माता अन्नालक्ष्मी को इसका मास्टरमाइंड माना गया जिन्होंने योजना बनाकर उस आदमी की हत्या करवाई जिसने उनकी बेटी से शादी की क्योंकि वो कौशल्या के अंतर्जातीय विवाह करने पर नाराज थे और मानते थे कि इसकी वजह से उनकी परिवार को बेइज्जत होना पड़ा था।

तिरुपुर की एक अदालत ने चिन्नास्वामी और 5 अन्य को मौत की सजा सुनाई थी, एक और व्यक्ति को दो बार के आजीवन कारावास और 5 साल की कठोर कारावास की सजा सुनाई लेकिन अन्नालक्ष्मी को बरी कर दिया था। लेकिन मद्रास हाई कोर्ट में निचली अदालत के फैसले को उलटते हुए पिता और एक अन्य को बरी कर दिया और दूसरे लोगों की सजा की अवधि को भी बदल दिया।[85]
मुख्य अभियुक्त का बरी होना और उसके पीछे का तर्क फैसले का एक जरूरी पहलू है। चिन्नास्वामी को मुख्य अभियुक्त के तौर पर बरी करते हुए कोर्ट ने कहा कि "*अभियोग पक्ष साजिश के आरोप को निःसंदेह साबित करने में असमर्थ रहा है।*"

फैसले की जो सबसे परेशान करने वाली बात है वो ये है कि ये हत्या को जाति के कानून को तोड़कर शादी करने पर परिवार के परेशान करने के बड़े मुद्दे से जोड़कर नहीं देखता। इसलिए अभियोग पक्ष द्वारा जो परिवार के हिंसात्मक कदमों के सबूत पेश किए गए, जहां कौशल्या शादी के ठीक बाद ही पुलिस से परिवार से सुरक्षा मांगने की गुहार लगाती है या शंकर शादी के कुछ दिनों के बाद ही कौशल्या के गायब होने की शिकायत करते हैं जहां कथित तौर पर कौशूल्या के परिवार ने ही उन्हें अगवा कर लिया था, उच्च न्यायालय ने उन्हें दरकिनार कर दिया।

इस केस में जाति के मुद्दे को अहमियत ना देकर अदालत ये मानने में विफल हुई कि जाति प्रथा समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के संवैधानिक सिद्धांतों को कैसे खतरे में डालती है।

> *"जवान लोग अगर आज भी धर्म और जाति के परे मुहब्बत करने की हिम्मत करते हैं तो उन्हें उनके*

ही परिवार वाले मार डालते हैं इससे हमें ये समझ आ जाना चाहिए कि जाति और धर्म से जुड़े भेदभाव की भावना कितनी गहरे बसी है।"

गरिमा

गरिमा से हमारा क्या मतलब है?

डॉ. अंबेडकर ने इसका सार आर्थिक जरूरत के मुद्दे पर बात करते हुए बखूबी समझाया है:

> *मेरी राय में दास वर्गों को सामाजिक सुधार की परवाह नहीं है। उनके हिस्से जो गरीबी और जरूरत आई है वो क्रूर सामाजिक व्यवस्था के चलते उन्हें जो तिरस्कार और अपमान को सहना पड़ता है उसके सामने कुछ भी नहीं है। उन्हें रोटी नहीं सम्मान चाहिए।* [86]

हमें डॉ. अंबेडकर के 'राष्ट्र की एकता' के पहले 'व्यक्ति की गरिमा' रखने पर जोर देने से उनके गहन दार्शनिक अर्थ का भान होता है। वह कहते हैं:

> *यह एकदम मसौदा संशोधन है। ये 'राष्ट्र की एकता' को पहले और फिर 'व्यक्ति की गरिमा' को बंधुत्व से शुरु हो रहे प्रस्तावना के वाक्य से पहले रखने की कोशिश करता है। व्यक्ति की गरिमा को पहले रखने का मतलब ही यही था कि जब तक यह तय ना हो तब तक देश एक नहीं हो सकता। आयरिश संविधान की प्रस्तावना में भी 'व्यक्ति की गरिमा' 'राष्ट्र की एकता' से पहले आता है। इसीलिए हमें भी इसी क्रम को बनाए रखना चाहिए।* [87]

डॉ. अंबेडकर इस विचार को आगे रखते हैं कि लोग कुछ पाने का साधन नहीं है बल्कि खुद में ही साध्य हैं। डॉ. अंबेडकर ने इस बात पर जोर दिया कि वह इंसान ही है जिसे एक मौलिक इकाई के तौर पर अधिकार

दिए गए हैं। भारत के संविधान में भाषा के स्तर पर व्यक्ति पर जोर देने का मतलब ही उसे भारत के संविधान[88] में दार्शनिक तौर पर केंद्रित करना है। 'राष्ट्र की एकता और अखंडता' की संवैधानिक समझ को हमें एक व्यक्ति के नजरिए से देखना होगा। राष्ट्र की एकता और अखंडता तभी मुमकिन है जब एक व्यक्ति की गरिमा (जिसमें अभिव्यक्ति की आज़ादी, चयन करने की आज़ादी और अपमान से आज़ादी भी शामिल हो) सुरक्षित हो। इसलिए राष्ट्र की एकता व्यक्ति की स्वायत्तता की कीमत पर नहीं बल्कि उसी स्वायत्तता के विचार पर बनती है।

गरिमा की इस समझ को सुप्रीम कोर्ट ने और भी गहन तरीके से कानून शास्त्र में विकसित किया है। नीचे दिए हुए कुछ फैसलों से हमें इस कानूनशास्त्र को विकसित करने की दिशाओं के बारे में समझेंगे चाहे वह कैदियों के अधिकार की बात हो या LGBTQI समुदाय के अधिकारों की बात हो या निजता के गरिमामयी महत्व की।

सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन। [89] रिट याचिका में कारागार अधिनियम, 1894 के सेक्शन 30 को चुनौती दी गई जिसमें यह कहा गया था कि ऐसे सभी कैदी जिन्हें सजा–ए–मौत दी गई है उन्हें बाकी कैदियों से अलग एक कोठरी में रखा जाए। कोर्ट ने अपने फैसले में कहा कि कानून का कोई भी प्रावधान पुलिस को यह अधिकार नहीं देता कि वो कैदियों को एकांत कारावास में डाल सकें, अदालत ने कहा कि एक *सभ्य समाज में सजा किसी व्यक्ति से उसकी मानवीय गरिमा नहीं छीन सकती।* अदालत ने आगे कहाः

> *एक कैदी के जेल के दरवाजे में घुसने भर से ही संविधान का भाग 3 (मौलिक अधिकार) उससे अलग नहीं हो जाता और अगर जेल किसी भी तरह से कैदी के मौलिक अधिकार कम करे, उनका उल्लंघन करने की कोशिश करे या उन्हें अनदेखा करे तो कानूनी नजर उनकी सुरक्षा करता है। क्या एक कैदी जिसे मृत्युदंड दे दिया गया है या एक विचाराधीन कैदी जिसे खतरनाक माना गया है उसकी तकलीफ आंसुओं से परे है? बिल्कुल भी नहीं, वरना सामाजिक न्याय, व्यक्ति की गरिमा, कानून के सामने बराबरी, कानून द्वारा स्थापित की गई प्रक्रिया*

और स्वतंत्रता के 7 बिंदु (अनुच्छेद 19: वाक–स्वातंत्र्य आदि विषयक कुछ अधिकारों का संरक्षण) सिर्फ दिखावे ही रह जाएंगे।

कैदियों को बेड़ियों में रखने के सवाल पर कोर्ट ने कहाः

> **[---]** *हम इस जानकारी से अनजान नहीं रह सकते कि अगर किसी इंसान के साथ मानवीय गरिमा को ठेस पहुंचाने वाला व्यवहार हो रहा हो, रोकी जा सकने वाली तकलीफ पहुंचाई जा रही हो और किसी आदमी को जानवर के जितना नीचा किया जा रहा हो तो वह एकतरफा होगा और उसपर अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समता) के तहत सवाल किया जा सकता है।"*

फ्रांसिस कोरली मुलिन बनाम प्रशासक, केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली के बंदी प्रत्यक्षीकरण (बंदी को अदालत में पेश करना) याचिका में नजरबंद व्यक्ति ने तमाम अन्य चीजों के साथ यह भी आरोप लगाया था कि उन्हें अपने वकील या उसके परिवार से मिलने नहीं दिया जा रहा था। इस पर सर्वोच्च अदालत ने सुनवाई करते हुए यह फैसला दिया कि गरिमा जीवन जीने के अधिकार का एक जरूरी हिस्सा है। एक लोकतांत्रिक समाज में जीवन जीने का अधिकार एक महत्वपूर्ण संवैधानिक मूल्य है यह मानते हुए अदालत ने कहा कि किसी भी व्यक्ति की गरिमा को चोट पहुंचाना अनुच्छेद 21 में दिए गए जीवन जीने के अधिकार का हनन होगाः

> *हम मानते हैं कि जीवन का अधिकार मानवीय गरिमा के साथ जीने के अधिकार से उसके साथ की दूसरी चीजें जैसे कि सही पोषण, कपड़े, रहने और पढ़ने–लिखने, खुद के विचारों को अलग–अलग तरीकों से व्यक्त करने, आजादी से घूमने–फिरने और दूसरे लोगों से मिलने जुलने की सुविधा जैसी तमाम जरूरी आवश्यकताएं आ जाती हैं।* **[---]** *इसमें किसी भी नजर से जीवन जीने की बुनियादी जरूरतें और ऐसे काम करने की छूट शामिल है जो इंसान की अभिव्यक्ति का बुनियादी दायरा हैं। ऐसा कोई भी काम जो मानवीय गरिमा को ठेस पहुंचाए या उसमें बाधा डाले उसे जीवन जीने के अधिकार का हनन माना जाएगा और उसे कानून द्वारा तय उस प्रक्रिया के हिसाब से*

तार्किक, सही और कानूनी होना होगा जो दूसरे मौलिक अधिकारों पर भी खरा उतरें। यह साफ है कि किसी भी तरह की यातना या क्रूरता, अमानवीय या अपमानजनक बर्ताव मानवीय गरिमा के खिलाफ है।

पुत्तास्वामी बनाम भारतीय संघ[91] के मामले में पहली बार मानवीय गरिमा की समझ को स्वायतता और चयन से जोड़ा गया, जहां निजता के अधिकार को मौलिक अधिकार और गरिमा को निजता का एक जरूरी हिस्सा माना गया। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व एक दूसरे के पूरक हैं डॉ. अंबेडकर के इस तर्क को इस बात ने साफ साफ दिखायाः

जीवन और निजी आज़ादी कभी ना छीने जा सकने वाले अधिकार हैं। ये अधिकार गरिमामयी मानवीय जीवन से कभी अलग नहीं हो सकते है। व्यक्ति की गरिमा, लोगों के बीच बराबरी और आज़ादी की खोज यह सभी भारत के संविधान के बुनियादी खंभे हैं। जीवन और निजी स्वतंत्रता संविधान की उपज नहीं है। इन अधिकारों को संविधान हर व्यक्ति के इंसान भर होने से उनमें निहित और कभी दूर ना होने वाला मानता है।

गरिमा की एक संवैधानिक मूल्य के रूप में भूमिका आगे समझाई गई हैः

जीने का मतलब गरिमा के साथ जीना है। संविधान बनाने वालों ने एक ऐसे समाज के बारे में सोचा था जिसमें संवैधानिक मूल्य दूसरी आज़ादियों समेत, स्वतंत्रता और गरिमा पर ध्यान देकर मिलेंगे। गरिमा इतनी बुनियादी है कि भाग 3 (मौलिक अधिकार) में व्यक्तियों को दिए गए अधिकारों की बुनियाद में गरिमा ही है। गरिमा ही वह बुनियाद है जो सभी मौलिक अधिकारों को एक साथ लाती है क्योंकि मौलिक अधिकार हर व्यक्ति के लिए गरिमामय जीवन पाने की बात करते हैं। निजता अपने साथ के मूल्यों के साथ व्यक्ति की गरिमा तय करती है और जब ऐसा जीवन जिया जा सके जिसमें गरिमा हो तभी सही अर्थों में आज़ादी है। निजता गरिमा के पूरे होने को तय करती है और ये वो बुनियादी मूल्य है जो जीवन और स्वतंत्रता की सुरक्षा को प्राप्त करने का इरादा रखती है।

हम गरिमा को निरादर के विपरीत देख सकते हैं और एक इंसान होने के बुनियादी मूल्य के तौर पर मान सकते हैं। इस सिद्धांत की कीमत उस विचार में है जिसे सर्वोच्च अदालत ने समझाया है। *नवतेज सिंह जौहर बनाम भारतीय संघ* में सर्वोच्च अदालत ने गरिमा को स्वायतता और चयन की नजर से देखा है और माना है कि धारा 377 इनकी अवहेलना करता है:

> *धारा 377* LGBT *लोगों की अपने चुने हुए पार्टनर के साथ अपनी मर्जी और सहमति से एक सुरक्षित और गरिमामय माहौल में सेक्स करने से रोककर निजी स्वतंत्रता में बाधा बनता है और इस तरह अनुच्छेद 21 का उल्लंघन करता है। ये उन्हें स्थाई संबंध बनाने या उनकी देखभाल करने से रोकता है। इस कारण* LGBT *व्यक्तियों को या तो बिना किसी हमसफर के अकेले जीवन बिताने या बिना किसी को खुद के बारे में बताएं एक 'बिना पकड़े गए अपराधी' की तरह अंधेरी कोठरियों में जिंदगी जीने को मजबूर करता है।*
>
> *व्यक्ति की गरिमा का संरक्षण करना संवैधानिक भवन की नींव का पत्थर है। ये डॉ. अंबेडकर के विचारों की चाभी थी और ऊपर दिए गए सर्वोच्च अदालत के व्याख्यानों ने इसे नया जीवन दिया है। स्वतंत्रता और समता की तरह गरिमा भी एक गतिशील समझ है जैसे जैसे सामाजिक आंदोलन 'व्यक्ति की गरिमा' जैसे कठिन पर महत्वपूर्ण शब्दों मे नए–नए आयाम जोड़ता जाएगा, गरिमा की हमारी समझ बढ़ती जाएगी।*

निष्कर्ष

इस संक्षिप्त पुस्तिका में ये समझ बनाने की कोशिश की गई है कि प्रस्तावना (जो संविधान के मूल्यों को बताता है) एक संघर्ष की उपज है। बिना इतिहासबोध के इस्तेमाल के हम प्रस्तावना को नहीं समझ सकते क्योंकि ऐसा करने पर संविधान केवल वकीलों का घोषणा पत्र बनकर रह जाएगा। नेहरू ने एक बार कड़ाई से कहा था कि वकील संविधान का अपहरण और चोरी कर रहे हैं। संविधान को उसके असली हकदार ''हम लोग'' तक पहुंचाने का काम अभी बाकी है।

लोग समकालीन संघर्षों के जरिए संविधान के ऊपर अपना हक बनाते हैं। प्रस्तावना में दिए गए मूल्यों से ही हम यह कहने की हिम्मत मिलती है कि धर्म के आधार पर भेदभाव गलत है, औरतें आदमियों के बराबर हैं और LGBT लोग हेट्रोसेक्शुअल लोगों की तरह ही गरिमा और अधिकारों के बराबर के हकदार हैं। बार–बार अलग–अलग समूहों के अपने संवैधानिक अधिकारों की मांग करना केवल संविधान के मनोभाव को ही आगे नहीं बढ़ाता बल्कि लोगों के दिलों–दिमाग में भी संवैधानिक मूल्यों को और गहरे बसा देता है। इन्हीं समकालीन संघर्षों ने ही संविधान को एक जीता जागता दस्तावेज रखा है जो समकालीन समाज की परेशानियों के साथ लगातार बातचीत जारी रखता है।

प्रस्तावना में दिए गए मूल्यों की खासियत ही यही है कि इन मूल्यों का इस्तेमाल अलग–अलग पीढ़ियां अपने समय में कर सकती हैं जिससे वो स्वतंत्रता, समता, न्याय और बंधुत्व में एक नया अध्याय जोड़ पाएं। हम यहाँ जस्टिस केनेडी की एक बात याद कर सकते हैं जो बताते हैं कि अमेरिका के लोगों के लिए उनका संविधान क्या मायने रखता है:

> *जीने का मतलब गरिमा के साथ जीना है। संविधान बनाने वालों ने एक ऐसे समाज के बारे में सोचा था जिसमें संवैधानिक मूल्य दूसरी आज़ादियों समेत, स्वतंत्रता और गरिमा पर ध्यान देकर*

मिलेंगे। गरिमा इतनी बुनियादी है कि भाग 3 (मौलिक अधिकार) में व्यक्तियों को दिए गए अधिकारों की बुनियाद में गरिमा ही है। गरिमा ही वह बुनियाद है जो सभी मौलिक अधिकारों को एक साथ लाती है क्योंकि मौलिक अधिकार हर व्यक्ति के लिए गरिमामय जीवन पाने की बात करते हैं। निजता अपने साथ के मूल्यों के साथ व्यक्ति की गरिमा तय करती है और जब ऐसा जीवन जिया जा सके जिसमें गरिमा हो तभी सही अर्थों में आज़ादी है। निजता गरिमा के पूरे होने को तय करती है और ये वो बुनियादी मूल्य है जो जीवन और स्वतंत्रता की सुरक्षा को प्राप्त करने का इरादा रखती है।

यह पुस्तिका संविधान में निहित मूल्यों की समझ बढ़ाने की कोशिश करती है ताकि आज की पीढ़ी के लोग इन मूल्यों से प्रेरित होकर स्वतंत्रता की अपनी खोज में आगे बढ़ते रहें।[93]

पाद टिप्पणियाँ

[1] के. बालगोपाल तत्कालीन आंध्र प्रदेश में एक मानवाधिकार कार्यकर्ता और वकील थे। उनके काम को यहां देखा जा सकता हैः balgopal.org

[2] के. बालगोपाल के साथ जनम साक्षी का साक्षात्कार (17 अक्टूबर, 2009)

[3] के. जी. कन्नाबिरन, द वेज ऑफ इम्प्युनिटी, ओरियेंट लॉगमैन, पृ. 18 ।

[4] संविधान सभा की बहसें, खंड 1, दिसम्बर 13, 1946।

[5] बिपिन चन्द्र, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इन्डिपेंडेंस, पेन्गुइन, 2016, पृ. 521 ।

[6] होमर जैक, संपादक, द गांधी रीडर, ग्रोव, पृ. 191 ।

[7] वही, पृ. 193 ।

[8] वही, पृ. 119 ।

[9] वही, पृ. 120 ।

[10] वही, पृ. 6 ।

[11] सुदीप्तो कविराज, गांधीज ट्रायल एंड इंडियाज कोलोनियल स्टेट इन सीएफः एक्सपीरियें. सिंग द स्टेट [308] (लॉयड रुडोल्फ एंड जॉन कर्ट जैकबसन, संपादक, 2006)।

[12] ''भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उप–समिति द्वारा नियुक्त आयुक्तों की रिपोर्ट,'' 38.

[13] https://indiankanoon.org/doc/1470346/

[14] अनुच्छेद 22(1): गिरफ्तार किए गए किसी भी व्यक्ति को ऐसी गिरफ्तारी के कारणों के बारे में यथाशीघ्र सूचित किए बिना हिरासत में नहीं रखा जाएगा और न ही उसे अपनी पसंद के वकील से कानूनी सलाह लेने और बचाव करने के अधिकार से वंचित किया जाएगा।

[15] ए.एस. मोहम्मद रफी बनाम तमिल नाडू राज्य, एआईआर 2011 एससी 308

[16] बीटी वेंकटेश और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य

[17] https://www-livelaw-in/news&updates/every&one&has&right&to&fair&trial&kangaroo&courts&not&permitted&karnataka&hc&on&hubli&bar&resolution&against&kashmiri&students&153985#%~%teÛt¾Everyone%20has%20the%20right%20to]of%20the%20Criminal%20Procedure%20Code-

[18] वही।

[19] राजमोहन गांधी, मोहनदासः ए ट्रू स्टोरी ऑफ ए मैन, हिज पीपुल एंड एन एंपायर. पेन्गुइन, 2007, पृ. 396।

[20] https://scroll.in/article/806606/why-the-uniquely-revolutionary-potential-of-ambedkars-constitution-remains-untapped

[21] आनंद तेलतुम्बडे, महाड़, आकार, नई दिल्ली, 2016, पृ. 108

[22] बॉम्बे विधान परिषद में, एक सदस्य एस.के. बोले ने 4 अक्टूबर, 1923 को एक प्रस्ताव

पेश किया जिसमें कहा गया, 'परिषद ने सिफारिश की है कि अछूत वर्गों को सभी सार्वजनिक जल स्रोतों, कुओं और
धर्मशालाओं का उपयोग करने की अनुमति दी जानी चाहिए जो सार्वजनिक धन से बनाए और संभाले जाते हैं या सरकार द्वारा नियुक्त निकायों द्वारा प्रषासित होते हैं या कानून, पब्लिक स्कूलों, अदालतों, कार्यालयों और औषधालयों द्वारा बनाये गये हैं। 1926 में, बॉम्बे विधान परिषद् ने एक प्रावधान जोड़ा कि दलित वर्गों को सार्वजनिक सुविधाओं तक पहुंच से वंचित करने वाली नगरपालिकाओं को सरकारी धन की हानि होगी। आनंद तेलतुम्बड़े, महाड़, आकार, नई दिल्ली, 2016, पृ. 108 ।

[23] वही, पृ. 126 ।

[24] डॉ. आनंद तेलतुम्बड़े गोवा में स्थित एक भारतीय विद्वान, अकादमिक और स्तंभकार हैं। वह फिलहाल भीमा कोरेगांव मामले में जेल में बंद हैं। उनकी कुछ पुस्तकों में ''महाड़ः द मेकिंग ऑफ द फर्स्ट दलित रिवोल्ट'', ''द पर्सिस्टेंस ऑफ कास्टः द खैरलांजी मर्डर एंड इंडियाज हिडन अपार्थेड'' और ''रिपब्लिक ऑफ कास्ट'' शामिल हैं।

[25] वही, पृ. 141 ।

[26] वही, पृ. 146 ।

[27] वही, पृ. 147 ।

[28] वही, पृ. 174 ।

[29]वही।

[30] पृ. 206 ।

[31] पृ. 208 ।

[32] वसंत मून सं., बाबासाहेब अम्बेडकर राईटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 1, अम्बेडकर फाउंडेशन, मुम्बई, 2014, पृ. 62य तेलतुम्बडे पूर्व उद्धृत।

[33] बिपिन चन्द्र, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इन्डिपेन्डेंस, पेन्गुइन, 1989, पृ. 210 ।

[34] वसंत मून सं., बाबासाहेब अम्बेडकर राईटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 1, अम्बेडकर फाउंडेशन, मुम्बई, 2014, पृ. 319 ।

[35] मानव यातायात और जबरन श्रम का निषेध

1) मानव तस्करी और बेगार और इसी तरह के अन्य प्रकार के जबरन श्रम निषिद्ध हैं और इस प्रावधान का कोई भी उल्लंघन कानून के अनुसार दंडनीय अपराध होगा।

2) इस अनुच्छेद में कुछ भी राज्य को सार्वजनिक उद्देश्य के लिए अनिवार्य सेवा लागू करने से नहीं रोकेगा, और ऐसी सेवा लागू करने में राज्य केवल धर्म, नस्ल, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

[36] पीयूडीआर बनाम भारतीय संघ https://indiankanoon.org/doc/496663/

[37] अनुच्छेद 24, भारत का संविधानः कारखानों आदि में बच्चों के नियोजन का निषेध। चौदह वर्ष से कम आयु के किसी भी बच्चे को किसी कारखाने या खदान में काम करने के लिए नियोजित नहीं किया जाएगा या किसी अन्य खतरनाक रोजगार में नहीं लगाया

जाएगा, बशर्ते कि इस उप खंड में कुछ भी किसी भी व्यक्ति को किसी भी संविधान द्वारा बनाए कानून द्वारा निर्धारित अधिकतम अवधि से परे
हिरासत में रखना खंड (7) के उपखंड (बी) के तहत अधिकृत नहीं होगा

[38]भारत सरकार अधिनियम, 1919 ब्रिटिश संसद द्वारा सरकार में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाने के लिए पारित किया गया था और भारत में संवैधानिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए पारित कानूनों में से एक था।

[39] बिपिन चन्द्र, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इन्डिपेन्डेंस, पेन्गुइन, 1989, पृ. 263 ।

[40] डॉ बी. आर. अम्बेडकर, स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज, 1945 **(https://drambedkar.co.in/wp-content/uploads/books/category2/11states-and-minorities.pdf)**

[41] संविधान सभा की बहसें, खंड 1, दिसम्बर 13ए 1946 ।

[42] 1956 में संसदीय लोकतंत्र पर अखिल भारतीय संगोष्ठी में नेहरू का संबोधन

[43] डॉ बी. आर. अम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट (जाति का उन्मूलन), 1936 **(http://gadyakosh.org/gk/%E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%A4%E0%A4%BF_%E0%A4%95%E0%A4%BE_%E0%A4%89%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A5%82%E0%A4%B2%E0%A4%A8_/_%E0%A4%AD%E0%A5%80%E-0%A4%AE%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%B5_%E0%A4%86%E0%A4%AE%E0%A5%8D%E0%A4%AC%E0%A5%87%E0%A4%A1%E0%A4%95%E0%A4%B0)**

[44] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, नवम्बर 4, 1948, पृ. 38 ।

[45] संविधान (बयालीसवां) संशोधन अधिनियम, 1976 निम्नलिखित कारणों से सबसे विवादास्पद
संशोधनों में से एक था:

1) उद्देश्यों के वक्तव्य में कहा गया है कि राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों पर वरीयता दी जानी चाहिए। यह देखते हुए कि मौलिक अधिकार अध्याय को भारतीय संविधान का हृदय माना जाता है, संशोधन हमारे संविधान के शब्दों और भावना के अनुरूप नहीं था।

2) संशोधन ने संसद को उन गतिविधियों को रोकने / प्रतिबंधित करने के लिए कानून बनाने की अनुमति दी जिन्हें वे 'राष्ट्र–विरोधी' मानते थे और इन कानूनों को चुनौती नहीं दी जा सकती, भले ही उन्होंने अनुच्छेद 14 और 19 का उल्लंघन किया हो (अनुच्छेद 31 डी के सम्मिलन के माध्यम से)।

3) न्यायपालिका की शक्तियों को कम करना इस संशोधन की एक बानगी थी। भारतीय संविधान को इस तरह तैयार किया गया है कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न

उच्च न्यायालयों दोनों के पास समान न्यायिक शक्तियाँ हैं और दोनों एक दूसरे के अधीन नहीं है। मौलिक अधिकारों के किसी भी उल्लंघन की स्थिति में, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 या अनुच्छेद 226 के तहत क्रमशः सर्वोच्च न्यायालय या किसी भी उच्च न्यायालय से संपर्क किया जा सकता है। हालाँकि, 42वें संशोधन ने इस संरचना को हटा दिया और संवैधानिक न्यायालयों के रूप में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की शक्तियों को कम कर दिया।

इसमें कहा गया है कि राज्य के कानून द्वारा मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के लिए सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा तब तक नहीं खटखटाया जा सकता है, जब तक कि केंद्रीय कानून ने भी इन अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया हो (अनुच्छेद 32ए के सम्मिलन के माध्यम से)। इसी तरह, उच्च न्यायालयों को केवल राज्य के कानूनों की संवैधानिक वैधता से संबंधित मामलों की सुनवाई करने की अनुमति दी गई और इस आशय का एक नया प्रावधान जोड़ा गया (अनुच्छेद 226A)। ये संशोधन न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर सीधे हमला थे और स्पष्ट रूप से संवैधानिक योजना का उल्लंघन करते थे।

4) इसने संविधान में संशोधन करने के लिए भारतीय संसद को निरंकुश शक्ति प्रदान करने की मांग की और कहा कि अदालतों को ऐसे संशोधनों की संवैधानिक वैधता का परीक्षण करने के लिए इन संशोधनों पर सवाल उठाने की कोई शक्ति नहीं होगी (अनुच्छेद 368 में संशोधन करके जो संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति देता है)।

[46] संविधान सभा की बहसें, खंड 01, अक्टूबर 17ए 1949 ।
[47] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, नवम्बर 15ए 1948 ।
[48] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, नवम्बर 15ए 1948 ।
[49] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, नवम्बर 15ए 1948 ।
[50] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, दिसम्बर 3, 1948, पृ. 38 ।
[51] के.एम. मुन्शी, इन्डियन कॉन्स्टीट्यूशनल डॉक्युमेंटस, खंड 1, भारतीय विद्या भवन, 1967 ।
[52] **https://indiankanoon.org/doc/60799/**
[53] वही।
[54] संविधान सभा की बहसें, खंड 7, नवम्बर 15, 1948 ।
[55] **https://indiankanoon.org/doc/257876/**
[56] वही ।
[57] संविधान सभा की बहसें, खंड 1, नवम्बर 19, 1946 ।
[58] केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य और ...
[59] आकाश सिंह राठौर, अम्बेडकर्स प्रियेम्बल, विंटेज, नई दिल्ली, 2020, पृ. 6

[60] https://indiankanoon.org/doc/111867/

वही।

[62] https://indiankanoon.org/doc/86852828/

[63] http://supremecourtofindia.nic.in/outtoday/wc40012.pdf

[64] https://indiankanoon.org/doc/257876/

[65] **Constitutional Assembly Debates, Vol- XI, Nov- 25 1949] pp- 972&981**

[66] https://indiankanoon-org/doc/1130169/

[67] भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 377। अप्राकृतिक अपराधः जो कोई भी स्वेच्छा से किसी भी पुरुष, महिला या जानवर के साथ प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ शारीरिक संभोग करता है, उसे आजीवन

कारावास, या ऐसी अवधि के लिए कारावास से दंडित किया जाएगा, जिसे दस साल तक या मौत की सजा तक बढ़ाया जा सकता है इसके साथ वो जुर्माना के लिए भी उत्तरदायी होगा।

[68] https://indiankanoon.org/doc/845216/

[69] https://indiankanoon.org/doc/42184625/

[70] 497. व्यभिचार।. जो कोई भी किसी ऐसे व्यक्ति के साथ यह जानते हुए यौन संबंध रखता है कि वह किसी अन्य पुरुष की पत्नी है, बिना उस पुरुष की सहमति या मिलीभगत के, ऐसा संभोग बलात्कार के अपराध की श्रेणी में नहीं है, और व्यभिचार के अपराध का दोषी है, और उसे ऐसी अवधि के लिए कारावास, जिसे पांच वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है, या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जाएगा। ऐसे मामले में पत्नी दुष्प्रेरक के रूप में दंडनीय नहीं होगी।

[71] https://indiankanoon.org/doc/42184625/

[72] भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 377। अप्राकृतिक अपराधः जो कोई भी स्वेच्छा से किसी भी पुरुष, महिला या जानवर के साथ प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ शारीरिक संभोग करता है, उसे आजीवन कारावास, या ऐसी अवधि के लिए कारावास से दंडित किया जाएगा, जिसे दस साल तक बढ़ाया जा सकता है इसके साथ वो जुर्माना के लिए भी उत्तरदायी होगा। स्पष्टीकरण.– लिंग प्रवेश इस धारा में वर्णित अपराध के लिए आवश्यक शारीरिक संभोग का गठन करने के लिए पर्याप्त है। (इस धारा को सुप्रीम कोर्ट ने 2018 में रीड दाउन किया था) राइट टू लवः नवतेज सिंग जौहर बनाम भारतीय संघः ए ट्रांसफोर्मेटिव कॉन्स्टीट्युशन एंड द राइट्स ऑफ LGBT पर्सन्स, पृ. 50 ।

[73] आकाश सिंह राठौर, अम्बेडकर्स प्रियेम्बल, विंटेज, नई दिल्ली, 2020, पृ. 119 – 149 ।

[74] डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकरः राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 12, वसंत मून सं. (बॉम्बेः शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1993), भाग 1, पृ. 661–691 ।

[75] डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकरः राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 12, वसंत मून सं. (बॉम्बेः शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, 1993), भाग 1, पृ. 661 – 691 ।

[76] संविधान सभा की बहसें, खंड 11, नवम्बर 25, 1949, पृ. 979 ।

[77] संविधान सभा की बहसें, खंड 1, दिसम्बर 13, 1946, पृ. 57 – 65 ।

[78] संविधान सभा की बहसें, खंड 11, नवम्बर 25, 1949, पृ. 980 ।

[79] नरेन्द्र जाधव, सं. खंड 1, 2013, पृ. 97

[80] वही।

[81] वही, पृ, 308 ।

[82] नरेन्द्र जाधव, Ed., Vol. II, 2014,च.217

[83] http://puclkarnataka.org/?p=72

[84] http://puclkarnataka.org/?p=72

[85] https://www.livelaw.in/pdf_upload/pdf_upload-376839.pdf

[86] अम्बेडकर, व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, पृ. 212 – 13

[87] बी शिवा राव, खंड 4, पृ, 5

[88] आकाश सिंह राठौर, अम्बेडकर्स प्रियेम्बल, विंटेज, नई दिल्ली, 2020 ।

संविधान वकीलों का चार्टर भर ही नहीं है बल्कि स्वतंत्रता की लड़ाई से निकला एक दस्तावेज़ है। जिन मूल्यों पर यह लड़ाई लड़ी गई उनमें न्याय, स्वतंत्रता, समता और गरिमा की खोज भी शामिल है। संविधान की प्रस्तावना में इन मूल्यों को सटीक तौर पर दिखाया गया है। प्रस्तावना हमें यह दिखाती है कि सभी भारतीय किस प्रकार उत्पीड़न के खिलाफ़ लड़ रहे थे। इस पुस्तिका का उद्देश्य उन मूल्यों पर प्रकाश डालना है जो संविधान को समझने में मौलिक भूमिका निभाते हैं।

यह पुस्तिका ये भी दिखाना चाहती है कि सभी संवैधानिक मूल्य केवल निर्जीव शब्द नही हैं बल्कि जन आंदोलनों के द्वारा नए आयाम प्राप्त करते हैं। इसीलिए समता और गरिमा के मायने हर पीढ़ी के साथ विकसित होते हैं क्योंकि हर पीढ़ी प्रस्तावना में कुछ नया जोड़ती है।

इस पुस्तिका में संवैधानिक मूल्यों को आसान भाषा में प्रस्तुत कर यही दिखाना है कि इन पर वकीलों का एकाधिकार नहीं है और इस पर असली स्वामित्व "हम भारत के लोगों" का है।

अल्टरनेटिव लॉ फोरम

122ध्4 इन्फैंट्री रोड, बालाजी आर्ट गैलेरी के निकट,
बैंगलोर,
इंडिया 560001
+91-80-22865757 I www.altlawforum.org
अपना फीडबैक हमें भेजें: contact@altlawforum.org

अल्टरनेटिव लॉ फॉरम वकीलों का एक समूह है जो कानून की वैकल्पिक पैरवी से जुड़ा है। ए.एल.एफ़. सामाजिक और आर्थिक न्याय के मुद्दों के लिए पैरवी और शोध करने के लिए प्रतिबद्ध है।